विवेक-शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१४ नवम्बर—१९९५ अंक—११

८४१ ३०१ (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

१३१. श्री जी. के. दीक्षित, वरोदा (गुजरात)
१३२. श्री सत्य प्रकाश लाल, वाराणसी (उ. प्र.)
१३३. श्री पूनम चन्द्र जैन—लुमडिंग (आसाम)
१३४. श्री राम आसरा वासुदेव लुमडिंग (आसाम)
१३५. नार्थ कछार टिम्बर प्रोडक्ट्स – मंडेरदिशा (आ०)
१३६. श्री ओम प्रकाश अग्रवाल – लंका (आसाम)
१३७. श्री महेश गुरुवारा लुमडिंग (आसाम)
१३८. श्री भोलानाथ उपाध्याय लुमडिंग आसाम)
१३९. श्री अमुभाई पटेल—बड़ोदा (गुजरात)
१४०. श्री रामभगत खेमका—मद्रास
१४१. श्री रूपाराम – जोधपुर (राजस्थान)
१४२. महावीर वाल वाचनालय— चन्दावल नगर (राज०)
१४३. श्री कृष्ण मलहोत्रा—नई दिल्ली
१४४. श्री गुलशन चावला—दिल्ली
१४५. श्री आर० के० ग्रोवर—नई दिल्ली
१४६. श्री राकेश रेल्हन – नई दिल्ली
१४७. श्री जयप्रकाश सिंह कलकत्ता
१४८. श्री गंगाधर मिश्र – एन० सी० हिल्स
१४९. श्री बी० बी० शेरपा लुमडिंग (आसाम)
१५०. श्री शंकर लाल अगरवाल नगाँव (आसाम)
१५१. श्री रामगोपाल खेमका— कलकत्ता
१५२. श्रीमती शान्ति देवी – इन्दौर (म० प्र०)
१५३. श्री जगदीश बिहारी—जयपुर (राजस्थान)
१५४. डॉ० गोविन्द शर्मा – काठमांडू (नेपाल)
१५५. श्री विजय कुमार मल्लिक—मुजफ्फरपुर
१५६. सुश्री एस. पी. त्रिवेदी— राजकोट (गुजरात)
१५७. श्रीमती गिरिजा देवी—बखरिया (बिहार)
१५८. श्री अशोक कौशिक – मालवीय नगर, नयी दिल्ली
१५९. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ—देवघर (बिहार)
१६०. श्री रामकृष्ण साधना कुटिर, खण्डवा (म०प्र०)
१६१ श्रीमती आभा रानाडे, अहमदाबाद (म०प्र०)
१६२. श्री डी० एन० थानवी, जोधपुर (राजस्थान)
१६३. श्री सोहन लाल यादव, नाहर कटिया (आसाम)
१६४. डॉ० (श्रीमती) रेखा अग्रवाल, शाहजहाँपुर (उ०प्र०)
१६५. डॉ० (श्रीमती) सुनीला मल्लिक (नई दिल्ली)
१६६. श्रीरामकृष्ण संस्कृतिपीठ, कामठी (नागपुर)

इस अंक में

		पृष्ठ
१. श्रीरामकृष्ण ने कहा है		१
२ भारतीय संस्कृति की रूपरेखा	स्वामी मुख्यानन्द	२
३. स्वामी प्रेमानन्द	श्री व्रजमोहन प्रसाद सिन्हा	८
४. हिमालय में स्वामी विवेकानन्द	श्री मोहन सिंह मनराल	१५
५. धर्मशास्त्र	ब्र० मोक्ष चैतन्य	२३
६. देवलोक	स्वामी अपूर्वानन्द	२७
७. बड़ा कौन ?	पुष्कर द्विवेदी	३२

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा का एकमात्र हिन्दी मासिका

वर्ष--१४ | नवम्बर--१९९५ | अंक--११

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'।।

सम्पादक :

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक

शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :

विवेक शिखा

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा – ८४१३०१

(बिहार)

फोन : ०६१५२-४२६३६

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	४० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	५० रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

संसार-जाल में फँसे हुए जीव विषयासक्ति के कारण हजारों दुःख कष्ट भोगते हैं किन्तु फिर भी वे कामिनी-काँचन के स्नेह को छोड़कर भगवान् में मन नहीं लगाते।

(२)

बिल्ली जब अपने बच्चे को दाँत से पकड़ती है तो उसे कुछ नहीं होता, लेकिन जब वह चूहे को पकड़ती है तो चूहा मर जाता है। इसी तरह, माया भक्त को नष्ट नहीं करती, भले ही वह दूसरों का विनाश कर डालती है।

(३)

जिस प्रकार बन्दर शिकारी के पैरों तले अपने प्राण न्योछावर कर देता है, उसी प्रकार मनुष्य सुन्दर स्त्री के पैरों तले अपनी जान कुर्बान कर देता है।

(४)

ग्रन्थ सब समय ग्रन्थ का काम न कर ग्रन्थि (गांठ) का ही काम करते हैं। यदि उन्हें सत्य-प्राप्ति की स्पृहा लेकर विवेक-वैराग्ययुक्त अन्तःकरण से न पढ़ा जाय तो उनके पठन से पाण्डित्याभिमान, दाम्भिकता और अहंकार की गाँठ ही पक्की होती जाती है।

(५)

यदि किसी में ज्ञानस्वरूपिणी वाग्देवी के ज्ञान की एक किरण भी आ जाए तो उसके सामने बड़े से बड़ा पण्डित भी जमीन पर रेंगनेवाले केंचुए जैसा हो जाता है।

भारतीय संस्कृति की रूपरेखा

(संक्षिप्त सूचनाएँ)

—स्वामी मुख्यानन्द जी
बेलुड़ मठ

(क) नागरिकता और संस्कृति

१. **नागरिकता**—जीवन को स्वस्थ और सुखमय बनाने के लिए व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्तर पर मानव के रहन-सहन, खान-पान, वसन-भूषण, साज-सज्जा, बोल-चाल, वाचन-लेखन शिल्प-कला-विज्ञान, भवन-नगर-उद्यान-वाहनादि निर्माण इत्यादि सुविधाओं का विकास नागरिकता कहलाती है।

२. **संस्कृति**—उच्च आदर्श तथा आचार-विचारों के द्वारा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर विकसित, संयत, सौहार्दपूर्ण और सुसंस्कृत बनाया जा सकता है। व्यावहारिक जीवन के सभी पहलुओं में इनकी अभिव्यक्ति संस्कृति कहलाती है। उच्चकोटि के संगीत, साहित्य, कला भी, जिनसे मन का विकास और आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है, संस्कृति के अन्तर्गत होते हैं।

3. केवल नागरिकता के द्वारा ही मनुष्य सुसंस्कृत नहीं बन जाता। इतिहास में देखा जाता है कि नागरिकता से सम्पन्न देश और जनता भी पशुवत् बर्बर साबित हुए हैं। वैसे संस्कृति का नागरिकता से कोई विरोध नहीं है। नागरिकता-पूर्ण जनता सुसंस्कृत भी हो सकती है। साधारण लोगों में विमर्शात्मक दृष्टि के अभाव से केवल नागरिकता को ही संस्कृति समझ बैठते हैं। विकसित नागरिकता न होते हुए भी मनुष्य सुसंस्कृत बन सकते हैं। वैदिक ऋषि-मुनिगण जो हिमालय के गिरिकंदरों में तपोवन बनाकर त्याग-तपस्या में रहते थे, वे बहुत ही सुसंस्कृत थे और मानव जाति के कल्याण के लिए उच्च तत्वों का आविष्कार किया। ब्रह्म-तत्व तथा आत्म-तत्व को जगत् के सामने रखा।

(ख) धर्म

१. नागरिक हो या न हो, सुसंस्कृत बनने के लिए मनुष्य में धर्म-बुद्धि की जागृति होनी चाहिए। अर्थात् दूसरों के प्रति सद्व्यवहार, न्याय-परायणता, समदार्शित्व, संयम, त्याग, सेवा, करुणा, मैत्री, इत्यादि उच्च आदर्श जीवन में उतारने की कोशिश करनी चाहिए। भारतीय साहित्य और शास्त्रों में कहा गया है —"धर्मेणहीनः पशुभिः समानः", यानि धर्म के बिना मनुष्य पशु के समान ही है।

२. भारतीय संस्कृति में धर्म की व्याख्या व्यापक है। केवल ईश्वर की उपासना और तदर्थ कर्मकांड की बात नहीं है। अवश्य ईश्वर की उपासना भी सच्ची भक्ति तथा सच्चरित्र पर आधारित रहने से सुसंस्कृत बनने का एक बहुत अच्छा साधन है, जैसे की गीता के १२वें अध्याय, भक्तियोग में बताया गया है। जो सभी सद्गुण मनुष्य को पशुभाव से उठाकर दिव्यभाव में प्रतिष्ठित करते हैं और उसके परम कल्याण के साधक होते हैं, वे सभी धर्म के अन्तर्गत हैं।

गीता के १६वें अध्याय, दैवासुर-संपत् विभाग-

योग में दैवी संपत् यानि दिव्यगुणों का वर्णन करते हुए कहा है—

अभयं, सत्व-संशुद्धिः, ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः ।
दानं, दमश्च, यज्ञश्च, स्वाध्यायः, तपः, आर्जवं,
अहिंसा, सत्यम्, अक्रोधः त्यागः, शान्तिः, अपैशुनम् ।
दयाभूतेषु, अलोलुप्त्वं, मार्दवं, ह्रीः, अचापलम् ।
तेजः, क्षमा, धृतिः, शौचं, अद्रोहः न-अतिमानिताः ।

ये सभी दिव्य गुण हैं ।

मनु-धर्मशास्त्र में भी धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं, यथा—

धृतिः-क्षमा-अस्तेयं-शौचम्-इन्द्रियनिग्रहः ।
धीः-विद्या-सत्यं-अक्रोधः दशंक धर्म-लक्षणम् ॥

इन्हीं दस धर्म के लक्षणों को संग्रह करके संक्षेप में मनुष्य मात्र के लिए आचरणीय धर्म के बारे में मनु ने फिर कहा है—

अहिंसा-सत्य-अस्तेय-शौच-इन्द्रियनिग्रह ये सभी को अपनाना आवश्यक है ।

धर्म के द्वारा ही मनुष्य-समाज का धारण होता है (धर्मो धारयते प्रजा), और सभी पुरुषार्थों की सिद्धि होती है । व्यास महर्षि कहते हैं –'धर्माद् अर्थश्च कामश्च' । लौकिक सुख-संपत्ति भी धर्म के अनुसरण से ही संभव-पर होते हैं ।

धर्म के द्वारा ही मनुष्य पशुत्व बुद्धि को त्याग कर, मानव से माधव, नर से नारायण बनता है । समस्त विश्व के आधारभूत सत्यवस्तु का साक्षात्कार करने का साधन धर्म है । धर्माचरण से मनुष्य में विवेक-वैराग्यों का उदय होता है और मन शुद्ध और सुसंस्कृत बनता है । शुद्ध मन में सत्य का प्रकाश होता है, सत्यवस्तु का आविर्भाव होता है । तब मनुष्य अपने अन्तर्निहित दिव्य स्वरूप को, सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप को, पहचान कर मुक्त-पुरुष होता है और सभी में वही सत्यवस्तु को अन्तर्निहित देखते हुए सर्वात्मभाव-संपन्न होकर सभी के हित में कार्यरत होता है। सत्यवस्तु की प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य है। उसकी प्राप्ति में ही परम-पुरुषार्थ अर्थात् निःश्रेयस सिद्धि होती है ।

इस प्रकार धर्म के द्वारा ही मनुष्य के चारों पुरुषार्थ, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, सिद्ध होते हैं। भारतीय संस्कृति में प्रथम तीन पुरुषार्थों को अभ्युदय अर्थात् लौकिक उन्नति के और मोक्ष को निःश्रेयस यानि आध्यात्मिक उन्नति के रूप में बताया गया है । इसलिए भारतीय शास्त्रों में कहा गया है कि वही धर्म है जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि होती है—"यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सधर्मः" । आचार्य शंकर ने भी गीता-भाष्य में कहा है कि वैदिक धर्म दो प्रकार का है, प्रवृत्ति लक्षण तथा निवृत्ति लक्षण— जो समस्त जीवियों के अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्ति का कारण है ।

(ग) भारत की महानता

धर्म के बारे में इस प्रकार उच्च और व्यापक कल्पना भारतीय संस्कृति की विशेषता है । प्राचीन काल से भारत धर्म-परायण रहा है। धर्म को वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में लाने की व्यवस्था की है । धर्म के परम उद्देश्य को सफल बनाने के लिए जनता के सामने सदा-सर्वदा आत्मज्ञान प्राप्ति का, मुक्ति का चरम आदर्श रखा है। इसीलिए भारत को धर्मभूमि, कर्मभूमि, पुण्यभूमि इत्यादि कहते हैं, जहाँ बहुतेक अन्य देश केवल भोग-भूमि रह गये हैं, हालाँकि वे नागरिकता में बढ़े हुए हैं। पुराणों में भारत की जनता को देवताओं से श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि भारत में ही स्वर्ग-अपवर्ग (मोक्ष) दोनों की प्राप्ति के

साधन हैं। देवता लोग भी भारत की प्रशंसा करते हैं-

गायंति देवा: किल गीतकानि धन्या:
अस्तु ते भारत-भूमि-भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्गभूते भवन्ति
भूय: पुरुष: सुरत्वात् ॥

(घ) भारतीय संस्कृति का समग्र तथा सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति में भिन्न-भिन्न स्तर पर रहते हुए समस्त मानवों को धीरे-धीरे उठाकर वही उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य पर पहुँचाने की कोशिश है। भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण समग्र तथा सर्वांगीण रहा है। इसमें शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक, लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति को समन्वयात्मक स्थान है। स्वर्ग-अपवर्ग, प्रपंच तथा परमार्थ, अभ्युदय एवं नि:श्रेयस प्राप्ति के मार्ग बताये गये हैं।

(ङ) सत्यवस्तु का अन्वेषण तथा साक्षात्कार

ईश्वरीय उपासना नाना प्रकार से सर्वत्र पायी जाती है। लेकिन सत्यवस्तु का अन्वेषण, साक्षात्कार, और स्वानुभूति भारतीय संस्कृति की अनोखी विशेषता है। भारतीय ऋषि-मुनियों ने सत्य का अनुसन्धान करके अनुभव किया और उसे 'ब्रह्म' शब्द से निर्देशित किया। उपनिषदों में बताया है कि ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त है "सत्यं-ज्ञानं-अनन्तं ब्रह्म"। अनन्त होने के नाते उसका कोई निर्दिष्टरूप नहीं है। ब्रह्मवस्तु सभी चराचर जगत् में ओत-प्रोत समाया हुआ है और सभी जीवियों के अन्तराल में आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित है। उसको सभी मन को शुद्ध और अन्तर्मुखी करके अपने अन्दर ही साक्षात्कार कर सकते हैं। धर्म इसके लिए प्रधान साधन है। ब्रह्म-वस्तु सभी में आत्मरूप से विराजमान होने के कारण हर जीव असल में शिव ही है। उपनिषदों में कहा है कि यह जगत् भी ब्रह्मस्वरूप ही है। उसी सत्यवस्तु की अभिव्यक्ति है।

(च) समाज व्यवस्था तथा पुरुषार्थ सिद्धि

सभी जीवियों में, स्त्री हो या पुरुष, वे किसी भी अवस्था में या जीवन के स्तर पर ही क्यों न हों, वही ब्रह्मवस्तु सभी में सच्चिदानन्द आत्म-स्वरूप में विद्यमान है हालांकि मनुष्य साधारणत: उनके मन बहिर्मुखी तथा विषयाभिसक्त होने के कारण उसको नहीं पहचानते। वे देहात्मक बुद्धि में फंसे हुये हैं और उनके आचार-विचार-व्यवहार उसी भावना से प्रेरित होते हैं। इन सब मनुष्यों को, वे किसी भी स्तर पर हों, उनके स्वभाव को ध्यान में रखते हुए धीरे-धीरे आत्म-साक्षात्कार के प्रति ले जाना है। आत्म-साक्षात्कार ही मनुष्य का परम उद्देश्य है। इसलिए भारतीय संस्कृति के महापुरुषों ने उनके सामने चतुर्विध पुरुषार्थ रखे हैं, धर्म को भित्ति बनाकर—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—जिससे उनको अभ्युदय तथा नि:श्रेयस सिद्धि हो सकती है। जनता को बताया कि धर्म मार्ग से अर्थ संचय तथा विविध प्रापंचिक कामनाओं का उपभोग करो। फिर कालक्रम में वयोवृद्धि के साथ-साथ मन में विवेक वैराग्यों का उदय होगा और नश्वर जगत को छोड़कर मन शाश्वत ईश्वर के प्रति जायेगा। वही ब्रह्मवस्तु बहिर्दृष्टि से जगत को नियमन करने वाले ईश्वर के रूप में है और अंतर्दृष्टि से सबके अन्दर आत्म-रूप में है। मन बहिर्मुखी रहने से ब्रह्म को ईश्वर रूप में उपासना करो। मन शुद्ध होकर अन्तर्मुखी होने से उसी ईश्वर को अपने आत्मरूप में पहचानोगे।

यह जगत् तो ब्रह्मवस्तु ही है और हर जीव आत्मस्वरूप शिव ही है। इसलिए समाज में सभी को धर्म को भित्ति बनाकर, ईर्ष्या-द्वेष, लोभ-मोह

त्यागकर अपने-अपने स्वभाव तथा क्षमता के अनुसार उसी ब्रह्म की यानि ईश्वर की अर्थात् जीवियों की सेवा करनी चाहिए। अपने-अपने काम-काज के द्वारा सर्वव्यापी ईश्वर की अर्चना करने से मनुष्य सिद्धि को अर्थात् आत्म-साक्षातकार को प्राप्त हो सकता है। गीता में कहा है—"स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः"।

अपने-अपने स्वभाव और क्षमता के अनुसार सारे समाज की सेवा ईश्वर की सेवा की भावना से करते हुए क्रमानुक्रम से आत्म साक्षात्कार यानि मोक्ष के प्रति हर एक मनुष्य को बढ़ते जाना चाहिए। इसी को वर्णाश्रम-धर्म कहते हैं। जैसे अपने शरीर के भिन्न-भिन्न अंग समन्वयात्मक रूप से अपनी सेवा करते हैं, उसी प्रकार से सभी मानव ईश्वर के भिन्न-भिन्न अंग-स्वरूप हैं और समन्वयात्मक भाव से उसे अपनी सेवा अर्पण करनी चाहिए। स्वधर्म-कर्म के अनुसार समाज की सेवा करनी चाहिए। समाज के इतर लोगों से हम सब प्रकार की सेवा पाते हैं। इसलिए यह हमारा भी कर्त्तव्य है कि हम भी अपनी शक्ति के अनुसार ईश्वर की अर्चना समझते हुए समाज की सेवा करें। इसी को वर्णधर्म कहते हैं। वैयक्तिक रूप से हमें बढ़ते हुए आयु के अनुसार बचपन से लेकर बुढ़ापे तक अपने जीवन-गति को आत्म-साक्षात्कार यानि मोक्ष की दिशा में लगानी चाहिए। अपनी विद्यार्थी दशा तथा गृहस्थ दशा में विद्यार्जन, धनार्जन, यशो लाभ इत्यादि का धर्म के भित्ति पर संग्रह करते हुए—अर्थात् सांसारिक जीवन काल में कर्म क्षेत्र में प्रवृत्त रहकर धर्म-अर्थ-काम इन पुरुषार्थों के माध्यम से अपने प्रापंचिक अभ्युदय के साधन की कोशिश करनी चाहिए। अपने वैयक्तिक अभ्युदय के साथ-साथ सामाजिक सेवा और सामाजिक अभ्युदय का समन्वय करना चाहिए। फिर अपने सामाजिक कर्त्तव्यों को निबाहने के बाद, अपने जीवन के अनुभवों की समीक्षा करते हुए धीरे-धीरे निवृत्ति पथ का अवलम्बन करके अपनी शक्ति को परम-पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए, निःश्रेयस प्राप्ति के लिए, आत्म-साक्षात्कार में लगानी चाहिए, जिसमें देहात्म-बुद्धि से मुक्त होकर सच्चिदानन्द का अनुभव सिद्ध होगा। तब देह और इन्द्रियों पर निर्भर करने वाले सभी प्रापंचिक सुख अमावश्या के चन्द्र के समान फीके और काले प्रतिभास होते हैं। मरण-धर्मी देह से मुक्त होकर मनुष्य अमर बन जाता है जो आत्मा का स्वरूप है। इसी को, अर्थात् वैयक्तिक धर्म के विकास को, आश्रम-धर्म कहते हैं। मनुष्य के जीवन में सामाजिक सेवा तथा अभ्युदय और वैयक्तिक निःश्रेयस, इन दोनों पहलुओं का समन्वय वर्णाश्रम-धर्म के द्वारा सिद्ध होते हैं। इसीलिए भारतीय संस्कृति की सामाजिक व्यवस्था में वर्णाश्रम-धर्म को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

जातिवाद से वर्णाश्रम धर्म का कोई संबंध नहीं है। वर्णाश्रम-धर्म की निन्दा भ्रमपूर्ण अज्ञान से ही प्रचलित हुई है। इसका मूल कारण यह है कि पाश्चात्य समाज भोगात्मक है। वहाँ संयम, त्याग, तपस्या, तथा आत्म-साक्षात्कार की कल्पना नहीं है। वे मनुष्य को देह ही मानते हैं। भारत का योगात्मक समाज है जिसमें उपरोक्त गुणों का प्रधानता है। लेकिन आजकल पाश्चात्य विद्या, विचारधारा और विज्ञान से प्रभावित होकर भारतीय समाज को भी पाश्चात्य समाज के ढांचे में ढालकर भोगात्मक बनाना चाहते हैं। इसलिए लोगों के विचारों में और दृष्टि में भ्रम उत्पन्न हो गया है। परन्तु हम देखते हैं पाश्चात्य में नागरिकता का बहुत विकास होने पर भी वहाँ कोई सुख-शांति नहीं है। लोग बर्बर बनते जा रहे हैं, और वहाँ के लोग शांति की खोज में भारत की ओर आ रहे हैं।

अवश्य, इस हजारों वर्षों से चली आ रही सामाजिक व्यवस्था में नाना ऐतिहासिक कारणों से, जैसे कि इस्लामीय तथा क्रिस्तीय विदेशी आक्रमण से राजकीय दासत्व तथा मनुष्य में स्वार्थ-बुद्धि घर करने से लोग वर्णाश्रम-धर्म के आदर्श को भूल गये हैं और व्यावहारिक क्षेत्र में कुछ सामाजिक दोष जम गये हैं। लेकिन जैसे कि एक महापुरुष रोगग्रस्त होने से उसकी इलाज करते हैं न कि उसको त्याग देते हैं या मार देते हैं, उसी प्रकार इस महान वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था को कुचल कर भोगवाद में फंसने के बजाय इस व्यवस्था को सुधार कर उसको अपने असली रूप में प्रतिष्ठित करना चाहिए जिससे मानव जाति का कल्याण हो सके। नहीं तो समाज में परस्पर द्वेष और संघर्ष ही मचेगा। अवश्य ही मूल उद्देश्य को स्थिर रखते हुए परिवर्तित काल और परिस्थिति के अनुरूप वर्णाश्रम-धर्म की रूप-रेखा कुछ बदलनी चाहिए, जिससे कि उसका अन्वय समस्त मानव जाति के लिए हो सके।

(छ) भारतीय शास्त्र-साहित्य

समस्त वर्णाश्रम धर्मियों के चतुर्विध सिद्धि के लिए भारतीय शास्त्र-साहित्य को भी चार प्रकारों में विभाजित किया गया है जैसे कि—१. धर्मशास्त्र, २. अर्थशास्त्र, ३. कामशास्त्र और ४ मोक्षशास्त्र।

१. **धर्मशास्त्र**—इनमें मनुष्य के घरेलू तथा सामाजिक भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसके व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्वधर्म का निरूपण है। मनुष्य के शिक्षा-दीक्षा के विचार भी इसी के अन्तर्गत हैं।

२. **अर्थशास्त्र**—इसमें आर्थिक उपार्जन-व्ययादि व्यवस्था, नाना प्रकार के शिल्प, व्यापारादि संबंधी विचार और राजनीति अन्तर्गत होते हैं।

३. **कामशास्त्र**—इसमें मनुष्य के नाना प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक उपभोग के विचार—जैसे कि पाक शास्त्र, रति शास्त्र, शृंगार शास्त्र, चित्रकला, संगीत, नृत्य, साहित्य, भवन-उद्यानादि निर्माण, नाना प्रकार के खेल-क्रीड़ा, परिमल द्रव्य इत्यादि विचार अन्तर्गत होते हैं।

अर्थात् अर्थशास्त्र तथा कामशास्त्र मनुष्य को सुसज्जित नागरिक बनाते हैं, और वह धर्म के द्वारा सुसंस्कृत बनकर आत्म-साक्षात्कार के लिए उपयुक्त बनता है।

४. **मोक्षशास्त्र** वेद-उपनिषद, इतिहास, पुराणादि मोक्ष शास्त्र हैं। इनमें सत्य-स्वरूप ब्रह्म-वस्तु और आत्मज्ञान की प्राप्ति और सगुण-ब्रह्म यानि ईश्वर या भगवान की उपासना के बारे में वैयक्तिक और सामाजिक संदर्भ में कथा-प्रसंग तथा दृष्टांतों के सहारे उपदेश दिये जाते हैं। दर्शन शास्त्रों में युक्ति-संगत विचार होते हैं और योग शास्त्र में ब्रह्म/आत्मा तथा ईश्वर/भगवान के साक्षात्कार के मार्ग सुव्यवस्थित क्रमबद्ध आनुष्ठानिक रूप में बताये हैं। मुख्य चार योग हैं।

१. ज्ञान योग और २. ध्यान योग (पातंजल)—ब्रह्म और आत्मा के साक्षात्कार के लिए हैं।

३. भक्तियोग — ईश्वर या भगवान की उपासना और प्राप्ति के लिए; और

४. **कर्मयोग**—जीवों की शिव भाव से वैयक्तिक तथा सामाजिक स्तर पर सेवा के लिए। इस सेवा को ईश्वर को अर्पण करके करने से मन शुद्ध होकर

की ईश्वर प्राप्ति होती है; और निष्काम भाव से, निर्लिप्त होकर करने से अहंकार मिटकर आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

इस प्रकार से मोक्षशास्त्र दो प्रकार के हैं— १. आध्यात्मिक, २. ईश्वरोपासक; और वे ज्ञान-परायण, भक्तिपरायण तथा कर्मपरायण हैं।

(ज) ईश्वरोपासना और परमत सहिष्णुता

ईश्वर सर्वव्यापी होने के कारण उसे अपने रुचि के अनुसार विभिन्न देव-देवियों के रूप में पूजा जा सकता है। ईश्वर एक ही है, लेकिन उसके नाम-रूप अनेक हैं, जैसे कि मनुष्य जाति एक होने पर भी सब के भिन्न-भिन्न नाम-रूप होते हैं। इसलिए वेदों में कहा है –'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।" (सत्य-वस्तु एक ही है; लेकिन उपासक भक्तलोग उसी की नाना प्रकार से वर्णन करते हैं)। जो नाम-रूप जिसको अच्छा लगता है, जिसके प्रति उसकी भक्ति होती है, वह देव/देवी उसकी "इष्ट देवता" कहलाती है। माता या पिता ये दो नाते हैं। फिर भी सभी के एक ही माता-पिता नहीं है। वे भिन्न-भिन्न नाम-रूप के होते हैं। लेकिन उनके साथ सन्तानों का नाता और परस्पर प्रेम का भाव सब परिवारों में समान है। ईश्वर सभी के माता-पिता हैं। भिन्न-भिन्न नाम-रूप से ईश्वर की भक्ति-उपासना करने पर भी सभी वही एक अनन्त ईश्वर को ही उपासते हैं और उसी को पाते हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों में विद्वेष और संघर्ष अनावश्यक मूर्खता है।

अनेकता में एकता भारतीय संस्कृति की और एक विशेषता है।

भारतीय संस्कृति में इसी कारण अनेक प्रकार के मतावलम्बी तथा भिन्न-भिन्न देव/देवियों के पूजक-भक्त-उपासक होते हुए भी कोई संघर्ष नहीं है। वरन सभी में एकत्व की भावना तथा सौहार्द्रता है। ईश्वरोपासना के लिए बनाये भिन्न-भिन्न मंदिरों में सभी जाकर दर्शन करते हैं, और भक्ति से प्रणाम करते हैं यद्यपि उनके इष्ट देवता भिन्न हों।

प्राचीन काल से विदेशी मतावलम्बियों को भी इसी प्रकार से सत्कारपूर्वक स्थान दिया गया है। लेकिन खेद की बात है कि ये विदेशी पर-मतावलम्बी बड़े असहिष्णु, हिंसक और ध्वंसक साबित हुए हैं। उनकी ईश्वर की कल्पना और भक्ति-उपासना की कल्पना बड़ी ही संकुचित और विद्वेष-पूर्ण है। इसका मुख्य कारण है कि इन विदेशों में सत्यवस्तु की खोज नहीं हुई। वे नहीं जानते और नहीं मानते कि वही अनन्त सत्यवस्तु ईश्वर के के रूप में, जीव के रूप में तथा जगत के रूप में है। ईश्वर सभी के हृदय में है और समान रूप से है; वह कहीं दूर में, स्वर्ग में, छिपा हुआ नहीं है। भारतीय संस्कृति कहती है (गीता में, "ईश्वरः सर्व भूतानां हृत् देशे तिष्ठति", "समोऽहं सर्व भूतेषु न में द्वेष्यः अस्ति न प्रियः"। जो ईश्वर की किसी तरह भक्ति से पूजा करते हैं वे सभी ईश्वर के लिए समान रूप से प्रिय हैं।

इसीलिए आचार्य शंकर छः मतों को उज्जीवित किया। उनको "छः मतों के स्थापन-कर्त्ता" (षणमत स्थापन-आचार्य) कहते हैं। विदेशों में यह कल्पनातीत है। सभी क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति की महानता अतुलनीय है। केवल आध्यात्मिक तथा भक्ति उपासना के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु संगीत, साहित्य, कला, स्थापत्य और धर्म एवं नीति-परायणता में भी भारत अग्रगण्य है। नागरिकता के क्षेत्र में तथा विज्ञान के क्षेत्र में भी कुछ सदियों पहले भारत ही अग्रगामी था। अब भारत को पुनरपि अपना सर्वतोमुखी विकास करना करना चाहिए।

जन्म तिथि : ३० नवम्बर

स्वामी प्रेमानन्द

'स्वामी प्रेमानन्द

[श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्द कृत भक्ति-मालिका में संकलित निबंध का सार-संक्षेप। प्रस्तुति-श्री ब्रज मोहन प्रसाद सिन्हा, छपरा—सं०]

हुगली जिले के आँटपुर ग्राम के श्रीतारापद घोष और माता मातंगिनी देवी के मँझले पुत्र बाबूराम ही हमारे स्वामी प्रेमानन्द हैं। आप का जन्म मंगलवार, १० दिसम्बर, १८६१ ई० (अग्रहायण, शुक्ल नवमी) को रात ११ बजकर ५५ मिनट पर हुआ। बाबूराम के जन्म के कुछ वर्ष बाद ही तारापदजी स्वर्गवासी हुए। बाबूराम बड़े घर के लाड़ले पुत्र थे। बचपन से ही वे स्पष्ट रूप से समझ गये थे कि वे साधारण संसारी जीव नहीं हैं। यदि कोई उन्हें विवाह की बात कहकर चिढ़ाता ता वे अपनी टूटी-फूटी तोतली भाषा में बोल उठते "नहीं, विवाह मत कर देना, मर जाऊंगा, मर जाऊंगा।" किशोर अवस्था में नदी तट पर किसी संन्यासी को देखने पर वे उसके साथ वार्तालाप में इतने मग्न हो जाते कि समय का बोध नहीं रह जाता था। कुल देवता लक्ष्मीनारायण की सेवा में रत, धर्मपरायण परिवार के पवित्र वातावरण में बाबूराम का शैशव तथा बाल्य का कुछ समय बीता। ग्राम की पाठशाला में शिक्षा पूरी कर लेने के पश्चात् उच्चतर अध्ययन के लिए वे कलकत्ता आकर चोर बागान में अपने चाचा श्री गुरुचरण घोष के घर पर निवास करने लगे। बाद में कम्बुलिया टोला में रहने गये। बाबूराम पहले 'आर्यन स्कूल' में और बाद में 'मेट्रोपॉलिस इन्स्टीट्यूशन की श्यामपुकुर शाखा में भरती हुए। 'वचनामृत', प्रणेता श्रीरामकृष्णमय मास्टर महाशय इस द्वितीय विद्यालय के प्रधान-अध्यापक थे। मास्टर महाशय के साथ जाकर बाबूराम ने श्रीरामकृष्ण का प्रथम दर्शन प्राप्त किया था।

उन्होंने, अपने बड़े भाई तुलसीराम एवं बहनोई की बलराम बोससे पहले श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में सुन रखा था। अतः बाबूराम के परिवार में ठाकुर की बात अनजानी नहीं थी। श्रीठाकुर के मानसपुत्र राखाल बाबूराम के साथ एक ही विद्यालय में अध्ययन करते थे और दोनों के बीच अच्छी घनिष्ठता भी थी, तथापि बाबूराम को उनके दक्षिणेश्वर आवागमन का पता नहीं था। श्रीरामकृष्ण के साथ परिचय होने के बाद ही बाबूराम को इस बात का पता चला, तब वे दोनों एक साथ दक्षिणेश्वर जाने लगे।

दक्षिणेश्वर में प्रथम भेंट के दिन से ही ठाकुर ने बाबूराम को अपने आत्मीय की ही तरह स्नेहपूर्वक स्वीकार किया था। बाबूराम का सुडौल, सुकोमल शरीर, उज्ज्वल गौरवर्ण तथा भक्तसुलभ विनयपूर्ण आचरण आदि सद्गुण देखकर उन्हें पहचानते देर न लगी कि माँ ने जिन्हें ईश्वर कोटि कहकर निर्दिष्ट किया है, ये उन्हीं में से एक हैं। बाबूराम को भी दक्षिणेश्वर में अपने बचपन का सपना साकार देखने को मिला - यहीं

तो है स्वप्नानुरूप सागरगामिनी पावनसलिला गंगा, वही निर्जन पंचवटी और उससे लगी हुई बहुतपोपूत साधनभूमि—कितना मनोरम! कैसा निःस्तब्ध! और यहीं तो है परब्रह्म में डूबे लोकातीत-चरित—श्रीरामकृष्णदेव। बाबूराम के आगमन के बाद एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने मातंगिनी देवी से अनुरोध किया, "इस लड़के को तुम मुझे दे दो।" इस अद्भुत और अप्रत्याशित अनुरोध पर तनिक भी विचलित न होती हुई मातंगिनी देवी ने उत्तर दिया, "बाबा बाबूराम आप के पास रहेगा, यह तो अत्यन्त सौभाग्य की बात है।" अतः ठाकुर का आमन्त्रण और माँ की सहमति पाकर वे प्रायः दक्षिणेश्वर में आकर रहने लगे। उन दिनों परम कारुणिक ठाकुर का स्नेह सैकड़ों रूपों में व्यक्त हुआ करता था। बाबूराम के बारे में वे कहा करते, "वह मेरा हमदर्द हैं।" "यह नैकष्य कुलीन है। इसकी हड्डियाँ तक शुद्ध हैं।"

भावावस्था में ठाकुर हर किसी का स्पर्श सहन नहीं कर पाते थे। अतः उस समय उन्हें सँभालने और पकड़े रहने के लिए हमदर्द और यथार्थ कुलीन बाबूराम को साथ-साथ रहना पड़ता था। भावसमाधि के लिए हठ करने पर ठाकुर ने जगदम्बा के चरणों में निवेदन किया पर उत्तर मिला—"बाबूराम को भाव नहीं होगा, ज्ञान होगा।"

एक दिन ठाकुर ने बाबूराम को कामिनी की माया से मुक्त रहने का उपदेश दिया था। ठाकुर उस दिन बलराम-मन्दिर में थे। शौच के बाद बाबूराम उनके हाथ पर जल डाल रहे थे। उसी मकान के एक हिस्से में उस समय बालिका विद्यालय था। बाबूराम जब उस कार्य में लगे थे, तब एक बालिका अपना आँचल पकड़कर उसके छोर में बन्धे चाभी के गुच्छे को खनखन ध्वनि के साथ घुमा रही थी। बाबूराम का ध्यान उस ओर आकर्षित करते हुए ठाकुर बोले, "देख, स्त्रियाँ पुरुषों को ऐसे ही बाँधकर खनखन घुमाया करती हैं। तू क्या उनके हाथों में इसी प्रकार घूमना चाहता है?" जिस प्रकार पक्षिणी माता अपने शावक को पंखों के नीचे लिए उसकी रक्षा करती है। उसी प्रकार ठाकुर सर्वदा सांसारिक दुर्बलताओं से बाबूराम की रक्षा किया करते थे।

बाबूराम मेधावी छात्र नहीं थे; विशेषकर श्रीरामकृष्णदेव के सान्निध्य में आने के बाद धर्म-भाव का विशेष जागरण होने से उनका मन विद्यालय से बहुत कुछ उचट सा गया था। इसलिए वे प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सके। (१८८५ ई०) परीक्षाफल निकलने के कुछ दिन बाद बाबूराम बैकुण्ठनाथ सान्याल के साथ दक्षिणेश्वर गये। वहाँ वार्तालाप के प्रसंग में सान्याल ने कहा, "यह परीक्षा में पास नहीं हुआ।" सुनकर ठाकुर हँसते हुए बोले, "अच्छा ही तो है—वह पाशमुक्त हुआ। जिसके जितने 'पास' हैं, उसके उतने ही पाश (बन्धन) हैं।" बाबूराम ने राहत की सांस ली! हमदर्द बाबूराम के ऊपर ठाकुर कितना निर्भर रहते थे, इसका एक सुन्दर दृष्टान्त है। एक दिन ठाकुर 'चैतन्य लीला' अभिनय देखने निकले। उन्होंने बाबूराम (प्रेमानन्द) को साथ लिया और कहा, "वहाँ समाधिस्थ हो जाने पर सभी मेरी ही ओर देखने लगेंगे और गड़बड़ करने लगेंगे। मुझमें वैसा होने की सम्भावना देखने पर तू अन्य विषयों की खूब बातें करने लगना।" वहाँ ठाकुर शीघ्र ही समाधिस्थ हो गये। तब बाबूराम भगवन्नाम सुनाते हुए उनके मन की गति को व्यावहारिक जगत् की ओर लौटा लाये। इस प्रकार विश्वस्त सेवक तथा पार्षद के रूप में दक्षिणेश्वर में निवास, ठाकुर के साथ सर्वत्र आवागमन तथा उनका स्नेहस्पर्श प्राप्त करने पर भी बाबूराम कभी गर्व

से फूलते नहीं थे। १८८६ ई० दिसम्बर मास में आँटपुर से आकर संन्यास ग्रहण के बाद उनको स्वामी प्रेमानन्द नाम दिया गया।

१८८७ ई० में ठाकुर के जन्मोत्सव के बाद स्वामी प्रेमानन्द सारदानन्द, और अभेदानन्द पैदल पूरी धाम गये। वहाँ पर वे लोग एमार मठ में रहकर जगन्नाथजी के प्रसाद पर जीवन यापन करते थे। १८९० ई० में किसी समय वे काशी में थे। वहाँ उन्होंने स्वनामधन्य जीवनमुक्त पुरुष त्रैलंग स्वामी के दर्शन किये तथा भास्करानन्द स्वामीजी से भी साक्षात्कार किया था। फिर १८९५ ई० में उत्तर भारत के तीर्थादि के दर्शन करते हुए वे वृन्दावन पहुँचे और वहाँ, वालाबाबू के 'कुँज' में कुछ दिन ठहरे। यहाँ पर वे दिनभर अपने ही भाव में तन्मय रहा करते तथा अपराह्न में देव दर्शन को जाते थे। कुछ दिन वे राधारानी के जन्मस्थान बरसाना में रहे। स्वदेश लौट रहे स्वामीजी के प्रबलतर आकर्षण के फलस्वरूप १८९६ ई० के अन्त में ये लोग कलकत्ते की ओर चले। वर्धमान पहुँचकर मातृ-भक्त प्रेमानन्द का मन श्रीमाताजी के दर्शन करने को व्याकुल हुआ। अतः दोनों जयरामबाटी आये और वहाँ एक पक्ष तक रहे। एक दिन गाँव के भ्रमण करते समय एक तालाव में ताजे खिले कमल देखकर प्रेमानन्द के मन में उसे माँ के चरणों में अर्पित करने की अदम्य आकांक्षा हुई और उन्हें लाने के लिए वे स्वयं ही जल में उतर पड़े, क्योंकि साथ के ब्रह्मचारी तैरना नहीं जानते थे।

मन की आकांक्षा के अनुरूप कमल संग्रह करके जब वे किनारे पर आये, तो दोनों ने विस्मयपूर्वक देखा कि उनके सारे शरीर पर बीस-तीस जोंके चिपकी हुई थी। काफी प्रयास के बाद उन्हें छुड़ाया गया पर उनका सारा अंग खून से लथपथ हो गया। उनकी यह हालत देखकर माताजी अत्यन्त विचलित हुई और भविष्य में ऐसा फिर कभी न करना, कहकर उन्हें सावधान कर दिया।

बेलुड़मठ के विस्तृत मैदान में कटीले तथा जंगली पौधे उग आये थे। स्वामी प्रमानन्द कुछ नवागत ब्रह्मचारियों को इन्हें उखाड़ने के कार्य में लगाकर किसी कार्यवश अन्यत्र चल गये। काफी देर बाद लौटने पर उन्होंने देखा कि प्रांगण का प्रर्याप्त भाग स्वच्छ हो चुका है। इस पर उनके आनन्द की सीमा न रही। परन्तु निकट जाने पर पता लगा कि उन पौधों को उखाड़ा नहीं गया है वल्कि छुरी से काटकर मैदान को आसानी से साफ कर लिया गया है। देखते ही उनका सहस्य मुखमण्डल गम्भीर हो उठा। यह क्या? दो दिन वाद ही तो ये फिर पनपने लगेंगे। कुछ नाराज होकर उन्होंने पूछा, "छुरी से क्यों काटा?" जड़ से उखाड़ना बड़े झंझट का काम है, इसीलिए छुरी से काट दिया।" स्वामी प्रेमानन्द गम्भीरतापूर्वक बोले, "झंझट! मैंने तो सोचा था तुम लोग ठाकुर का काम आनन्दपूर्वक कर रहे हो। यदि यह झंझट मालूम होता तो मैं यह कार्य करने को नहीं कहता। मुझ से पूछे बिना छुरी से काटना बड़ा ही अनुचित है, क्योंकि अव पौधों की जड़ों को उखाड़ना आसान न होगा।" थोड़ा मौन रहकर फिर कहा, "देखो बाबा! एक बात कहता हूँ। भविष्य में तुमलोग वहुत बड़े बड़े कार्य करोगे, परन्तु जी चुराने की बुरी आदत यदि एक वार जीवन के स्तरों में प्रवेश कर जाए, तो फिर रक्षा नहीं। मैदान से घास निकालने की इस साधारण सी बात के वारे में मैं नहीं कहता। दैनन्दिनी जीवन की सारी छोटी-मोटी बातों में जी चुराते

की यह आदत दृढ़मुक्त हो जाती है। तथा जीवन विषमय हो जाता है। अतः मेरा अनुरोध है कि ऐसा कभी न करना।"

प्रेमानन्द जानते थे कि मनोराज्य की चिकित्सा कोरे व्याख्यान से नहीं होती, सिर्फ उपदेश देने से काम नहीं बनता—स्वयं धर्म का आचरण करके जोवों को सिखलाए।' अतः अन्तिम दिनों तक वे सर्वदा कर्म में व्यस्त रहते थे और कहते थे—मुख बन्द रहे, कार्य हो बोले।" ब्रह्मचारियों के साथ काम करते हुए वे कहते थे, "मैं स्वयं भी तो तुम लोगों के साथ उपले पाथ रहा हूँ। सिर्फ भक्तों को चरण धूलि दे-देकर क्या मैं अपना परलोक बिगाड़ूँगा ? इसलिए गोबर भी उठाता हूँ।" इन कुछ वाक्यों में बाबूराम महाराज के स्वांगीण जीवन का एक मनोरम चित्र प्रकट हो उठा है। स्वामीजी का निर्देश था कि 'जूते को सिलाई से लेकर चण्डीपाठ तक—सारा कार्य करना होगा। बाबूराम महाराज भी कहते थे "इन्हें सभी विषयों की शिक्षा लेनी होगी—सब्जी काटना, रसोई पकाना, मन्दिर के कार्य, पूजा, हिसाब रखना, व्याख्यान देना इत्यादि। सभी कार्यों में कुशल होना आवश्यक है। व्यवस्था तथा शारीरिक परिश्रम के इन समस्त कार्यों के माध्यम से प्रेमानन्द का युद्ध प्रेम प्रकट हुआ करता था। स्वामी तुरीयानन्द ने एक बार उन्हें सत्य ही लिखा था—"तुम लोगों का जहाँ कहीं शुभागमन होगा, वहीं पर आनन्द का स्रोत बहने लगेगा। रात में कोई ब्रह्मचारी मसहरी लगाना भूल गये हैं, प्रेमानन्द उनकी मसहरी लगा दे रहे हैं; किसी ने माँग किया है, प्रेमानन्द दूध की कटोरी लिए उसके पीछे घूम रहे हैं। ऐसी घटनाएँ नित्य ही हुआ करती थीं।

यह सोचकर कि प्रेमाधार प्रेमानन्द के सर्व-ग्रासी प्रेम के पूर्ण प्रवाह में सब कुछ बह न जाय स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें सावधान कर दिया था—"तू मंत्रदीक्षा मत देना नहीं तो तेरे और राखाल के चेलों के बीच झगड़ा होगा।" बाबूराम महाराज ने इस आदेश का अक्षरशः पालन किया।

बेलुड़ मठ में ब्रह्ममुहूर्त में ही सर्वप्रथम उन्हीं की वाणी कर्णगोचर होकर सब को जगाया करती थी। फिर सारे दिन विविध क्रियाकलाप चला करते थे। पूजा वे अत्यन्त भक्तिपूर्वक किया करते थे। पराधीन, शोषित भारत वर्ष में सब ओर अहर्निश जो आर्तनाद उठता था, उससे व्यथित होकर इन महापुरुष के मर्मस्थल से प्रार्थना उठती "हे प्रभो, इस अत्याचार का शीघ्र प्रतिकार करो।" इसी भावधारा की प्रबल अभिव्यक्ति का एक उत्कृष्ट उदाहरण उनके १९१८ ई० के मालदा में दिये हुए व्याख्यान में प्राप्त होता है। स्वामी प्रेमानन्द ने उस व्याख्यान में विवेकानन्द—प्रवर्तित दरिद्रनारायण—सेवा का ही सन्देश दिया था। व्याख्यान जब समाप्त होने जा रहा था तो एक श्रोता बोल उठे "हम कुछ प्रेम भक्ति की बातें सुनने आये थे।" बाबूराम महाराज उस पर ध्यान न देते हुए अपना वक्तव्य कहते चले। परन्तु जब उस व्यक्ति ने तीन बार इसी बात को दुहराया तो वक्ता का चेहरा गम्भीर हो उठा। उन्होने सिंह के समान गरजकर पूछा, "कौन सुनेगा और किससे कहूँ प्रेम भक्ति की बातें ? कौन है यहाँ पर प्रेमभक्ति की बात सुनने का अधिकारी ?" उसके पश्चात् उन्होंने इस सन्दर्भ में एक कहानी सुनायी जिसका आशय इस प्रकार है—एक बार एक फेरीवाला मुहल्ले में घूमते हुए प्रेम बेच रहा था—"प्रेम ले लो जी, प्रेम।" मूल्य में वह खरीदने वाले का सिर माँग रहा था। उसे एक भी खरीदार नहीं मिला। कहानी समाप्त कर प्रेमानन्दजी ने गुरु गम्भीर स्वर में पूछा, "आप लोगों में से कोई सिर दे सकेगा ?

प्रेम भक्ति आसान बात नहीं है। इस युग में स्वामी विवेकानन्द जो कह गये हैं, वही धर्म है— शिवज्ञान से जीव सेवा।" सभा निःस्तब्ध रह गयी।

पूर्व बंगाल भ्रमणकाल में वे देवभोग में नाग महाशय का निवासस्थान देखने गये। नारायणगंज से स्वामी ब्रह्मानन्द के साथ पैदल कीर्त्तनदल के पीछे-पीछे चलते हुए वे ज्यों ही नाग महाशय के आँगन में पहुँचे, त्योंहीं भाव के आधिक्य से शरीर के वस्त्र उतारकर वहीं भूमि पर लोटने लगे। प्रेमानन्द को कुछ और अधिक जानने के लिए अब उनके चरित्र के अन्य पहलुओं का अध्ययन करना असंगत न होगा। श्रीरामकृष्णदेव के उदार भाव तथा बाबूराम महाराज के पूर्व संस्कार के संघर्ष की कुछ घटनाएँ कई बार अपूर्व आलोक बिखेरती हुई सबको विस्मित कर देती थी। पूरे निवास काल में एक दिन बाबूराम महाराज ने देखा कि मन्दिर के सामने ही ईसाई धर्म प्रचारकगण ईसा की महिमा का प्रचार कर रहे हैं। इस पर उनका जातिगत संस्कार अचानक क्षुब्ध होकर बाधा देने को अग्रसर हुआ। वे श्रोतामण्डली के समीप खड़े होकर जोर से पुकार उठ—हरि बोल, हरि बोल, हरि बोल,।" साथ ही सैकड़ों नर-नारियों के कण्ठ से निनादित हो उठा—"हरि बोल, हरि बोल।" सभा भंग हो गयी। पण्डों ने बाबूराम महाराज को धन्यवाद देते हुए कहा, "हमलोग डर के मारे इतने दिन कुछ भी नहीं कर पा रहे थे।" परन्तु यह घटना प्रेमानन्द के हृदय में विजयोल्लास के बदले तीव्र विषाद ले आयी। रात को उन्होंने स्वप्न देखा, जिसमें दर्शन देकर ठाकुर यह कह रहे थे "क्यों रे, तूने उनकी सभा क्यों भंग कर दी? वे लोग तो मेरे ही नाम, मेरी ही वाणी का प्रचार कर रहे थे। कल सवेरे उठते ही उनके पास जाकर क्षमा माँगना।" प्रातःकाल उठते ही बाबूराम व्यग्र होकर उन ईसाई धर्म प्रचारकों की खोज में निकल पड़े और बड़ी मुश्किल से उनके निवास स्थान का पता लगाकर उनसे क्षमा माँगी।

प्रेमानन्द का वैराग्य भी विलक्षण था। उनके नित्य उपयोग की वस्तुओं में थीं—दो धोतियाँ, दो कुरते, एक उत्तरीय, एक जोड़ी चप्पल, एक लाठी और एक छाता। इनके अतिरिक्त शीतकाल में वे एक दूसरी चादर तथा रूई भरे एक कुरते का उपयोग करते थे। इन थोड़ी-सी चीजों में से दान भी चलता था। जब वे बीमार होकर देवघर में निवास कर रहे थे, तो एक नाई चोरी के अपराध में पकड़ा गया। स्वामी प्रेमानन्द की धारणा थी—अभाव के कारण मनुष्य का स्वभाव बिगड़ जाता है, अतः उसे दण्ड न देकर उसका अभाव दूर करना ही सक्षम व्यक्ति का कर्तव्य है। इस कारण उन्होंनें पकड़े गये व्यक्ति को सजा के बदले एक रुपया देने को कहा। इतना ही नहीं सेवक के चले जाने पर उन्होंने उसे अपना गमछा भी दे दिया।

माताजी के प्रति असीम श्रद्धा-भक्ति स्वामी प्रेमानन्द के व्यक्तित्व की एक अन्य विशेषता थी। माँ से अनुमति लिए बिना वे कोई भी विशेष कार्य हाथ में नहीं लेते थे और माँ के आदेश पर अपना मत त्यागने को वे सदा प्रस्तुत रहते थे। एक पत्र में वे माँ के बारे में लिखते हैं—श्रीमाताजी मानव देहधारिणी होने पर भी उनका वास्तव में अपार्थिव भागवती तनु है; जीव के कल्याणार्थ मनुष्य की भाँति लीला कर रही हैं।" और भी कहा करते थे—"माताजी को देख रहा हूँ कि वे ठाकुर से भी बड़ो आधार हैं—वे शक्तिस्वरूपणी जो हैं। उनमें (भाव) छिपाने की कितनी क्षमता है। ठाकुर प्रयास करके भी नहीं छिपा पाते थे,

बाहर निकल ही पड़ता था। माताजी को भाव समाधि होती है, पर किसी को पता भी लगने देती हैं ?"

आत्मसमर्पण का भाव उनके जीवन में अन्य रूप में भी प्रकट होता है। ठाकुर के निदेशानुसार ही वे मठ में निवास करते थे तथा उनके आदेश के बिना कुछ भी नहीं करते थे। वह आदेश केवल हृदय में सूक्ष्म अनुभव के रूप में ही नहीं मिलता था, वरन् विशेष अवसरों पर ठाकुर निर्देश देने के लिए स्थूल रूप धारण कर सामने प्रकट हुआ करते थे। एक बार मठ व्यवस्थापना के बारे में गुरुभाइयों के साथ मतभेद होने के कारण उन्होंने अन्यत्र चले जाने का संकल्प किया और मठ के फाटक की ओर चल पड़े—साथ में केवल शरीर पर के वस्त्र, एक गमछा तथा एक और कपड़ा था। फाटक पार होकर उन्होंने ज्योंही कदम बढ़ाया त्योंही देखा कि ठाकुर उनके कन्धे पर का गमछा खींचते हुए कह रहे हैं।" कहाँ चले चाँद ? मुझे छोड़कर कहाँ जाओगे ? स्वामी प्रेमानन्द के अनिश्चित पथ की यात्रा वहीं समाप्त हुई।

१९१० ई० में स्वामी तुरीयानन्द, शिवानन्द तथा कुछ और साधु-ब्रह्मचारियों के साथ अमरनाथ की यात्रा की। तीर्थदर्शन की साधु-सुलभ इच्छा से उन्होंने भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रमुख तीर्थों का दर्शन करके तृप्तिलाभ किया था। मठ जीवन के प्रारम्भ में किसी समय अपनी माता के साथ रामेश्वर आदि तीर्थों के भी दर्शन कर आये थे।

१९१५ ई० में भक्तों के आमन्त्रण पर वे राड़िखाल (ढाका) गये। वहाँ श्री जगदीशचन्द्र बोस के निवास स्थान पर ठहरने की व्यवस्था हुई। श्रीरामकृष्ण के इन पार्षद के आगमन से वह अंचल उस समय प्रेम से ओत-प्रोत हो उठा। यहाँ तक कि मुसलमानों ने भी उस आनन्द में भाग लिया। किसी विशेष क्षेत्र में उत्सव के लिए चन्दा एकत्र करने न जाने पर उन लोगों ने कहा था—"वे क्या सिर्फ आप ही लोगों के हैं ? वे तो हमलोगों के भी पीरसाहब हैं।" उस अंचल में बहुत से घरों में लोगों की ठाकुर की पूजा एवं कीर्तन में उत्साहपूर्वक भाग लेते देखकर प्रेमानन्द आश्चर्य चकित रह गये। उत्सव के पश्चात् कलकत्ता लौटते ही उन्हें कॉलरा हुआ और प्राणसंशय उपस्थित हुआ। होश होने पर सबका शंकाकुल दुःखी चेहरा देखकर उन्होंने कहा, "डरो मत यह शरीर अभी नहीं जायेगा—माँ जीवित जो हैं।" इस रहस्य को बहुत से लोग नहीं जानते थे और जानने वाले भी भूल गये थे। श्रीरामकृष्ण ने जब बाबूराम की माता से सन्तान की भिक्षा माँगी थी, तो माता ने स्वीकृति देते हुए कहा था, "बाबा, इतनी भिक्षा दीजिए कि मेरी भगवान में भक्ति हो, और मुझे पुत्र-कन्या का शोक न सहना पड़े।" ठाकुर ने वह वर प्रदान किया था। बाबूराम महाराज ने अब उसी अमोघ वाणी का सबको स्मरण करा दिया। उनकी इस अस्वस्थता के समय, पूर्व बंगाल से मुसलमान भक्तों ने 'मनौती' मानी थी तथा मठ में तार भेजकर कामना व्यक्त की थी कि वे शीघ्र आरोग्य लाभ करें। प्रेमानन्द का प्रेम केवल हिन्दू समाज में आबद्ध न रहते हुए मुसलमान समाज में भी फैल रहा था। यह देखकर एक मौलवी के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। प्रेमानन्द जब मैमनसिंह के टांगाइल महकमे के खारिन्दा गाँव में निवास कर रहे थे तो मौका पाकर उनको परीक्षा लेने तथा उन्हें पराजित करने के उद्देश्य से अपने एक मित्र को साथ लेकर उनके पास आये। परन्तु वे विफल हुए और उन्हें अपनी भूल स्वीकारनी पड़ी। प्रेमानन्दजी इसपर तनिक भी रुष्ट नहीं हुए; बल्कि मौलवी साहब को जलपान कराने के

लिए उन्होंने फल मिष्टान आदि मँगवाया। तब मौलवी बोले, "आप अब तक उदार मन का प्रचार करते रहे हैं। क्या आप मेरे साथ एक ही थाल में खा सकते हैं।" प्रेमानन्दजी दृढ़तापूर्वक बोले, हाँ खा सकता हूँ, और ऐसा ही किया भी।

इस दीर्घकालीन भ्रमण तथा अस्वास्थ्यकर वातावरण के बीच रहने एवं कठोर परिश्रम करने के फलस्वरूप स्वामी प्रेमानन्द को कालाज्वर हो आया। कलकत्ता लौटकर चिकित्सा कराने से रोग का थोड़ा उपशम हुआ और वायु परिवर्त्तन के लिए उन्हें वैद्यनाथ धाम ले जाया गया; परन्तु दुर्भाग्यवश उन दिनों इन्फ्लूएंजा की बीमारी पृथ्वी पर सर्वत्र महामारी जैसी फैलती हुई वैद्यनाथ धाम तक पहुँच गयी और उनके शरीर में संक्रमित होकर उनके प्राणों का संशय उत्पन्न कर दिया। समाचार पाकर स्वामी शिवानन्द महाराज मठ से वहाँ अविलम्ब आ गये और उन्हें कलकत्ता ले आये। उनके कलकत्ता पहुँचने तक रोग नियंत्रण से परे जा चुका था; अतः उत्तम चिकित्सा के बावजूद लौटने के चौथे दिन (३० जुलाई, १९१८ ई० मंगलवार, सन्ध्या ४ बजकर १५ मिनट पर) उन्होंने स्वधाम-गमन किया। उस दिन साधुगण प्रातःकाल से ही नामसंकीर्तन कर रहे थे। स्वामी ब्रह्मानन्द दुःखित हो कमरे के अन्दर-बाहर टहल रहे थे। एक बार भीतर आकर उन्होंने प्रेमानन्द से पूछा, "ठाकुर का अच्छा स्मरण है न? ऐसा हो तो फिर हमलोगों को भी भरोसा मिलता है।" ठाकुर के मानसपुत्र राखाल को कभी यहाँ तक कि अन्तःकाल में भी ठाकुर का विस्मरण नहीं हो सकता; बाबूराम को भी नहीं, यह जानते हुए भी ब्रह्मानन्द महाराज ने सम्भवतः वर्तमान जड़ सभ्यता के युग में प्रमाण स्थापित करने तथा वहाँ एकत्र साधु एवं भक्तों के मन में श्रद्धा जागृत करने के लिए ही यह कहा। और मानो उसे समझते हुए ही प्रेमानन्द महाराज ने मुस्कुराकर स्वीकृति में गर्दन हिलायी और क्षीण स्वर में कहा, "कृपा, कृपा, कृपा।" यह कहकर वे टकटकी लगाये ठाकुर के चित्र की ओर देखते रहे-- पर बड़ी ही गम्भीर मुद्रा में।

स्वामी प्रेमानन्द प्रेम की हाट भंग करके चल दिये। यह मार्मिक संवाद चारों ओर फैल गया और इससे सब के हृदय में तीव्र आघात हुआ। सुनकर मास्टर महाशय बोले, ठाकुर के प्रेम का पक्ष चला गया।" माताजी अश्रुपात करती हुयी बोलीं, मठ की शक्ति, भक्ति युक्ति — सब मेरे बाबूराम का रूप धारण कर गंगातट को आलोकित करती हुयी मठ में घूमा करती थी। हाँ, ठाकुर उसे भी ले गये।"

(श्रीरामकृष्ण भक्तमालिका)
प्रथम भाग से

हमें ऐसे हृदय की आवश्यकता है जो समुद्र सा गंभीर और आकाश सा उदार हो।

हृदय पूर्ण होने पर मुख से शब्द निकलते हैं, हृदय पूर्ण होने पर हाथ भी काम करते हैं।

--स्वामी विवेकानन्द

"पुण्यतीर्थ मायावती में स्वामी विवेकानन्द"

—मोहन सिंह मनराल
सुरईखेत (बिठोली) २६३६५३
जि०—अल्मोड़ा, उ० प्र०

मायावती : स्वामीजी के स्वप्न की प्रतिस्थापना—

स्वामी विवेकानन्द इस शताब्दी के अरुणोदय पर नव युग के नवल प्रभात की किरण की तरह मायावती (हिमालय) में ३ जनवरी, १६०१ ई० को पहुँचे और मात्र १५ दिन के अल्प प्रवास से इसे एक पुण्यतीर्थ में परिणित कर गये। आज न केवल भारत अपितु विश्व के कोने-कोने से श्रद्धालु भक्त, साधक, चिन्तक, कवि, प्रकृति प्रेमी तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के वाहक एवं संवर्द्धक आत्माएँ यहाँ आती हैं और इसकी आध्यात्मिक ऊर्जा से धन्य हो जाती हैं। सारा संघर्ष यहाँ आकर समर्पण में बदल जाता है और देह मन का तुच्छ 'मैं' न जाने कहाँ लुप्त हो जाता है। चारों ओर प्रकृति अपनी नीरवता बिखेरती है और कवि हृदय गा उठता है—

"अहा ! यह (मायावती) प्रकृति का स्वर्ग है।
यहाँ आकर संघर्ष बदल जाता है समर्पण में
झपट पड़ती है शान्ती चारों ओर से
अपूर्णता दूर करने को—
रिक्त हृदय परितृप्त हो उठता है,
और अनायास ही कह उठता है
यही तो वह बिन्दु है
जहाँ 'मैं" की इतिश्री हो जाती है।"

पग-पग पर जहाँ प्रकृति अपनी कोमलता और कठोरता को एक साथ अभिव्यक्त करती हो, जहाँ से हर लौटने वाला शान्ति का उपहार लेकर लौटे ऐसा धरती का स्वर्ग मायावती कैसे प्रकाश में आया। इसके निर्माण की अवश्य कोई गूढ़ गाथा है जो मानवता के लिए मुक्ति की पवित्र धारा प्रवाहित करने के लिए रची गयी है। हम इसकी कल्पना एक स्वप्न के रूप में ब्रह्मऋषि स्वामी विवेकानन्द के मस्तिष्क में तब पाते हैं जब वे पश्चिम की धरती पर विचरण कर रहे थे। ७ जुलाई, १८६६ को वे लन्दन से अपने एक पत्र में हेल बहनों को लिखते हैं—'मठ बनाने की अभी कल्पना मात्र है—जो हिमालय में कहीं रूपायित होने का प्रयास कर रही है।'

इसके उपरान्त हम उन्हें यूरोप के भू-स्वर्ग स्विट्जरलैण्ड में स्थित आल्पस पर्वत की माँन्ट ब्लान और लिटिल सेण्ट वर्नार्ड पहाड़ियों के मध्य हिम-शृंगों से आवृत चिमोनीज ग्राम में अपने प्रिय शिष्य सेवियर दम्पत्ति और कुमारी मूलर के साथ पाते हैं। इस स्थान के प्राकृतिक सौन्दर्य से उनके हृदय में हिमालय में मठ निर्माण की कल्पना मुखर हो उठती है और वे इसका जिक्र कप्तान सेवियर से करते हैं। स्वामीजी के श्रीमुख से इस योजना को सुनकर कप्तान जे० एच० सेवियर उत्साहपूर्वक बोल उठते हैं—'अहा ! यदि इसे कार्यरूप में परि-

णित किया जा सके, तो क्या ही अच्छा होगा। आप ठीक कहते हैं—ऐसा एक आश्रम अवश्य होना चाहिए।'

अपने इस विचार को कार्यरूप में परिणित करने की योजना उसी समय से स्वामीजी प्रारम्भ कर देते हैं। उदाहरणार्थ इसी स्थान से ५ अगस्त, १८९६ को वे अल्मोड़ा के निवासी भक्त लाला बद्री शाह को पत्र लिखते हैं—'प्रिय शाह जी ''मैं एक मठ स्थापित करना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि वह अल्मोड़ा या उसके समीप किसी स्थान में हो ''मैं चाहता हूँ कि एक छोटी-सी पहाड़ी मिल जाय तो अच्छा हो।' अपने इस मठ की कार्य-प्रणाली व उद्देश्यों को कुछ अधिक उजागर करते हुए इसी वर्ष नवम्बर माह की २६ तारीख को स्वामीजी कुमारी मेरी को एक पत्र में लिखते हैं-

"इस समय कलकत्ता तथा हिमालय में एक-एक केन्द्र स्थापन करने जा रहा हूँ। प्राय: ७००० फुट ऊँची एक समूची पहाड़ी पर हिमालय केन्द्र स्थापित होगा।'''मैं चाहता हूँ कि सैंकड़ों की संख्या में हिन्दू युवक प्रत्येक सभ्य देश में जाकर वेदान्त प्रचार करें और वहाँ से नर-नारियों को एकत्रित कर कार्य करने के लिए भारत भेजें। इस प्रकार परस्पर में आदान-प्रदान बहुत होगा।" भारत वापस लौटकर जब स्वामीजी १८९७ में अल्मोड़ा पधारे तो अपने अभिनन्दन के उत्तर में उन्होंने अल्मोड़ा के मध्य एक जनसभा को सम्बोधित करते हुए कहा—

"मित्रो, यह तुम्हारी कृपा है कि तुमने मेरे एक विचार का जिक्र किया है, और मेरा वह विचार इस स्थान पर एक आश्रम स्थापित करने का है। इसका कारण स्पष्ट है कि इन पर्वत श्रेणियों के साथ हमारी हिन्दू जाति की सर्वोत्तम स्मृतियाँ सम्बद्ध हैं। यदि यह हिमालय धार्मिक भारत के इतिहास से पृथक कर दिया जाय तो शेष बहुत कम रह जायेगा। अतएव यहीं पर एक केन्द्र होना चाहिए जो न केवल क्रियाशीलता अपितु इससे भी बढकर निश्चलता एवं ध्यानोपासना को समर्पित हो और मुझे पूर्ण आशा है कि एक न एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा।"

और वह दिन अधिक दूर नहीं रह सका। स्वामीजी की इस उद्घोषणा के एक वर्ष बाद सन् १८९८ में वे पुन: अल्मोड़ा आये और अपने शिष्य सेवियर दम्पत्ति के साथ थामसन हाउस में रहे। इसी के साथ स्वामीजी के हिमालय मठ की प्रतिष्ठापना का कार्य कार्यरूप में परिणित होने लगा। अब हम उसी की आलोचना पर आयेंगे।

मायावती में अद्वैत आश्रम की स्थापना

सन् १८९८ में अपने अल्मोड़ा प्रवास की समाप्ति के उपरान्त स्वामीजी कश्मीर की ओर चल पड़े मगर मठ प्रतिष्ठा के कार्य को अन्जाम देने के कार्य में श्री सेवियर ने दिन-रात एक कर दिया। अल्मोड़ा में कोई उपर्युक्त स्थान न ढूँढ़ पाने के उपरान्त श्री सेवियर ने हीरा डुंगरी, कालीमठ, सिरौली व देवलधार आदि स्थानों का भ्रमण किया; मगर कोई सफलता न मिली। अन्त में उन्हें सफलता मिली अल्मोड़ा से ७० कि० मी० की दूरी पर पिथौरागढ़ जिले में स्थित लोहाघाट से १० कि० मी० की दूरी में एक पूरी पहाड़ी को खरीदने में जो भारतीय सेना के अवकाश प्राप्त जनरल मि० मैक्ग्रेगर के चाय उद्यान का भाग था। यह स्थान समुद्र तल से ६ हजार ४०० फीट की ऊँचाई पर स्थित, घने वनों से आच्छादित था और यहाँ से ३४० कि० मी० लम्बी हिमालय की हिमाच्छादित पर्वत श्रृंखला के दर्शन होते थे। चीड़, बांज, बुरांश और देवदार के वृक्षों से घिरे इस रमणीय वन्य क्षेत्र को कप्तान व श्रीमती सेवियर ने स्वामीजी के हिमालय मठ

के सर्वथा उपयुक्त पाया और उनकी सहमति से इसे खरीद लिया गया।

19 मार्च, 1899 ई० को श्रीरामकृष्ण देव के पुनीत जन्म दिवस के अवसर पर इस स्थान पर अद्वैत आश्रम की स्थापना हुई। अपने पूर्व नाम 'माईपट' को छोड़कर इस स्थान ने 'मायावती' का नया नाम ग्रहण कर स्वयं को स्वामीजी के कार्य में संलग्न होने का गौरव प्राप्त किया, जो अभी तक मात्र जंगली पशुओं से आच्छादित खामोशी में डूबा वन क्षेत्र मात्र था। इस दिन से वह ब्रह्ममय देवपुरुष के संकल्प से पुण्यक्षेत्र बन गया, जिसकी हवा, मिट्टी व पानी आज भी उनकी उपस्थिति का अहसास देते हैं। हो भी क्यों नहीं, इस स्थान को स्वामीजी का प्यार मिला। अद्वैत ज्ञान को तीव्र कर्मशीलता में ढलकर जगत के कल्याणार्थ मुखरित होने का अवसर मिला और चरितार्थ हुई स्वामीजी की वह वाणी जो इस स्थान के बारे में उन्होंने अपने श्रीमुख से कही थी "हिमालय की ऊँचाईयों पर हमने एक स्थान बनाया है, जहाँ पूर्ण सत्य की अपेक्षा और किसी वस्तु का प्रवेश नहीं हो सकता। व्यक्तियों के जीवन के उदात्त और मनुष्य जाति को सम्प्रेरित करने के अभियान में इस सत्य को अधिक मुक्त और अधिक पूर्ण अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से हम उसकी आदि स्फुरण भूमि हिमालय के शिखरों पर इस अद्वैत आश्रम की स्थापना कर रहे हैं। यह अद्वैत आश्रम अद्वैत—केवल अद्वैत के लिए ही समर्पित है।"

स्वामीजी जून 1899 में अपनी दूसरी विशेष यात्रा पर निकल पड़े और इधर उनके कर्मवीर अनुरागी शिष्य सेवियर मायावती के सुविधा-विहीन, कठिन परिस्थितियों से भरपूर इस एकान्त निर्जन स्थान में संघर्ष करने में पिल पड़े। एक ओर बंगले की मरम्मत आदि का कार्य चला तो दूसरी ओर स्वामीजी की पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' के प्रकाशन हेतु एक छोटे प्रेस की व्यवस्था की गयी। ऐसे स्थान में पत्रिका का प्रकाशन अपने आप में एक साधना से कम नहीं कहा जा सकता है। स्वामी स्वरूपानन्द जो स्वामीजी के शिष्य थे अद्वैत आश्रम के प्रथम अध्यक्ष हुए। कैप्टन 'प्रबुद्ध भारत' के व्यवस्थापक बने और कुछ समय बाद इस कार्य में सहायता देने के लिए स्वामीजी के तीन शिष्य स्वामी विरजानन्द, स्वामी सच्चिदानन्द एवं स्वामी विमलानन्द आकर आश्रम में रहने लगे।

मगर इस भगीरथ साधना का गहरा मूल्य तब चुकाना पड़ा जब 28 अक्तूबर, 1900 को श्री सेवियर ने अचानक देह त्याग कर दिया। उचित चिकित्सा व्यवस्था का अभाव बना रहा और अपनी धर्मपत्नी के कन्धों पर आगे के कार्य के संचालन का भार सौंप श्री सेवियर ने अपना बलिदान दे डाला। निश्चय ही सत्य की खोज में एक जिज्ञासु भक्त, समर्पित सेवक व वीर पुरुष का यह बलिदान मायावती आश्रम का कभी न मिटने वाला पृष्ठ है। स्वामीजी के अनुसार—'जिस आदर्श के लिए वे (श्री सेवियर) जिए और शहीद हो गये। उसकी अग्निशिखा अब भी प्रबुद्ध भारत के पृष्ठों को आलोकित कर रही है।'

स्वामीजी इस घटना के समय विदेश में थे। अचानक मिस्र में उन्हें इस घटना का पूर्वाभास हो गया था। वे बिना किसी पूर्व सूचना के उदास मन से शीघ्र भारत लौट आये तथा 9 दिसम्बर, 1900 को बेलुड़ मठ कलकत्ता में उन्हें यह समाचार प्राप्त हुआ। 26 दिसम्बर, 1900 को कु० मैकलिआर्ड को उन्होंने अपने पत्र में लिखा—"हमारे प्रिय मित्र श्री सेवियर मेरे पहुँचने से पहले ही परलोक सिधार चुके हैं, उनके द्वारा स्थापित आश्रम के किनारे जो नदी प्रवाहित है, उसी के

तट पर हिन्दू रीति से उनका अन्तिम संस्कार किया गया है। ब्राह्मणों ने पुष्पमाल्यशोभित उनकी देह को वहन किया था एवं ब्रह्मचारियों ने वेद पाठ किया था।"

श्री सेवियर की देह को जिस स्थान पर अग्निदेव को समर्पित किया गया वह आज भी उनकी इच्छा के अनुसार ही किसी स्मारक से रहित सघन मौन व स्वच्छन्दता के मध्य नीरवता में डूबा है। मगर स्वयं 'अद्वैत आश्रम' और 'प्रबुद्ध भारत' उनके जीवन के जीवन्त स्मारक के रूप में अभी भी कर्म निरत हैं। पति के देहावसान के उपरान्त श्रीमती सेवियर ने उस कार्य को आगे बढ़ाया और दीर्घ १७ वर्ष अपने वैधव्य के उसी स्थान पर व्यतीत कर दिये। उन्होंने जिस असीम धैर्य से इस मर्मान्तिक दुःख को झेला, उसी धैर्य व साहस से इस जनशून्य स्थान पर अद्वैत की मशाल को जलाये रखा। वे 'माताजी' के नाम से जानी जाने लगी और जब उनसे इस निर्जनवास के बारे में किसी ने प्रश्न किया तो वे बोली "मैं स्वामी जी का चिन्तन किया करती हूँ।' स्वामीजी व स्वरूपानन्द के देहत्याग के उपरान्त, उन्होंने आश्रम का एक विधिवत ट्रस्ट बनाकर इसे बेलुड़ मठ को दान कर दिया। सन् १९१६ में स्वास्थ्य खराब होने के कारण उन्होंने सदा के लिए आश्रम को अलविदा कह दिया और इंग्लैण्ड चली गयी, जहाँ सन् १९३० में उनका स्वर्गवास हुआ।

ऐसे संघर्ष व समर्पण के स्थल मायावती में स्वामीजी का पदार्पण उस समय हुआ जब इसे उनकी आवश्यकता थी। श्री सेवियर परलोक सिधार चुके थे और आश्रम के भावी संचालन को अक्षुण्ण बनाना था। फिर जिस स्वप्न को स्वामीजी विदेशों की धरती पर देखते रहे, उसके साकार होने पर एक बार क्यों न उसका अवलोकन किया जाय। यह बात अवश्य उनके हृदय में कहीं-न-कहीं उठती होगी। नव शताब्दी के अरुणोदय पर यह महान अवसर आया, जब प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करते अस्वस्थ स्वामीजी आत्मबल से चलकर अपनी अन्तिम हिमालय यात्रा पर आये और उनके चरणरज से मायावती महातीर्थ में परिणित हुआ।

'स्वामीजी के मायावती में बीते पन्द्रह दिन'

मायावती की अपनी अन्तिम हिमालय यात्रा पर जाने से पूर्व स्वामीजी २६ दिसम्बर, १९०० को अपने पत्र में कु० मैकलिआर्ड को लिखते हैं— "प्रिय, श्रीमती सेवियर विचलित नहीं हुई हैं। उनसे मिलने के लिए कल मैं पहाड़ के लिए रवाना हो रहा हूँ। भगवान हमलोगों की इस प्रिय साहसी महिला को आशीर्वाद प्रदान करें।" स्वामीजी २७ दिसम्बर को कलकत्ता से अपने गुरुभाई स्वामी शिवानन्द व शिष्य सदानन्द को साथ लेकर मायावती के लिए चल पड़े। वे २९ दिसम्बर को प्रातः ५ बजे काठगोदाम रेलवे स्टेशन पहुँचे जहाँ से मायावती तक की यात्रा में कम-से-कम ३ दिन का समय लगता था। मौसम की खराबी ने इस ६५ मील के सफर को और विकट बना दिया था। मगर स्वामीजी के शिष्य कालीकृष्ण (स्वामी विरजानन्द महाराज) बड़ी तत्परता से कुलियों व डोली की व्यवस्था कर वहाँ उपस्थित थे जिसे देख स्वामीजी आनन्दित हुए।

एक दिन काठगोदाम में विश्राम करने के उपरान्त ३० दिसम्बर को उनका कारवाँ चल पड़ा और पहले दिन भीमताल में भोजन व धारी नामक स्थान पर डाकबंगले में रात्रि विश्राम हुआ। मगर उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम रात ३१ दिसम्बर उन्हें एक विकट तूफान में बर्फ बारी के मध्य एक छोटी-सी तंग दूकान में दुकानदार

को अनिच्छा के बावजूद काटनी पड़ी। दुकानदार अपने परिवार सहित वहाँ रहता था और उसे भय था कि कहीं यह आफत लम्बे समय तक न झेलनी पड़े, मगर परमहंस स्वामीजी दूसरे दिन लौटते समय उसे बहुत धनराशि दे आये। वे इस विषम अवस्था में बालक के समान उलाहना करते हुए बोले—"सब मूर्ख हैं। यदि हिमपात की ही आशंका थी तो मुझे यहाँ आने क्यों दिया? कालोकृष्ण तो अभो बच्चा है, परन्तु तारक दादा तुम तो बूढ़े आदमी हो। तुम किस बुद्धि से इस आँधी-पानी के मौसम में मुझे अल्मोड़ा न ले जाकर यहाँ ले आये?"

तीसरे दिन एक-एक फुट बर्फ पर यात्रा शुरू हुई और मौरनाला के डाक बंगले में अधिक आराम से रात्रि विश्राम हुआ। चौथे दिन २ जनवरी १९०१ का रात्रि विश्राम धूनाघाट के डाकबंगले में निर्धारित था। यहाँ थोड़ा पैदल चलते हुए अपनी शारीरिक दुर्बलता की ओर संकेत करते हुए स्वामीजी ने स्वामी विरजानन्द से कहा—"देखो भाई, अब तो मैं अपने जीवन के अन्तिम छोर पर आ पहुँचा हूँ।" ३ जनवरी को देवीधूरा, पहाड़पानी होते हुए स्वामीजी मायावती आश्रम पहुँचे जिसे उनके स्वागतार्थ पत्र-पुष्पों से सुसज्जित किया था। घोड़े पर सवार स्वामीजी ने आश्रम में प्रवेश किया। अपने स्वास्थ्य के बारे में वे श्रीमती सेवियर से बोले—"वास्तव में मेरा स्वास्थ्य अब टूट गया है, परन्तु मेरा मस्तिष्क अभी भी पहले जैसा सबल और कार्यक्षम है।" श्रीमती सेवियर व इस स्थान पर अपनी टिप्पणी में ६ जनवरी को एक पत्र में वे श्रीमती ओली बुल को लिखते हैं—"श्रीमती सेवियर बहुत ही दृढ़ संकल्पशालिनी महिला हैं तथा उन्होंने अत्यन्त शक्ति और सबल चित्त से इस शोक को सहन किया है।...यह स्थान अत्यन्त ही सुन्दर है एवं इन लोगों ने इसे और भी मनोरम बनाया है। उद्देश्य साधन में दो यूरोपीय शहीदों ने आत्मोत्सर्ग किया है।"

स्वामीजी का स्वास्थ्य खराब चल रहा था, उस पर मौसम की भी कठोरता ने उन्हें कमरे में बन्द रहने को मजबूर कर डाला जो उनके स्वभाव के अनुकूल न था। पर, उन्होंने इस अवस्था में भी अपना कार्य जारी रखा। लेखन व पत्रकारिता से सम्बन्धित अपना अन्तिम महत्वपूर्ण कार्य उन्होंने इसी आश्रम में किया और इसे भविष्य के लिए एक संकेत भी दिया जहाँ से श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का साहित्य व प्रबुद्ध भारत का प्रकाशन लगातार होता चला आ रहा है।

कुछ रोचक व प्रेरणास्पद क्षणों की यादें:—स्वामीजी को पहले दुसरी मंजिल के एक कक्ष में ठहराया गया मगर आग जलाकर कमरे को गरम रखने की व्यवस्था न होने के कारण उन्हें नोचे के कमरे, जहाँ अब पुस्तकालय व सभा कक्ष हैं, में अग्नि कुण्ड के समीप ही रखा गया। इस अग्नि कुण्ड में सदा आग जलाकर कमरे को गरम रखने की व्यवस्था थी। उस स्थान पर तथा दिन की धूप में वे आश्रमवासियों को अपनी अमृतमयी वाणी से परितृप्त करते। नाना उपदेश देते और कौतुहल में समय व्यतीत करते। ऐसे ही कुछ क्षणों की यादों को संजोकर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

एक दिन स्वामीजी अपने प्रति अपने पाश्चात्य शिष्यों की निष्ठा पर व्याख्यान देने की मुद्रा में खड़े होकर बोल पड़े थे—"बलपूर्वक कोई किसी से सम्मान या आदेशपालन नहीं करा सकता। शुद्ध प्रेम तथा महत्त चरित्र के सम्मुख ही सभी नतमस्तक हो जाते हैं।...यहीं देखो न, किस प्रकार कैप्टन सेवियर ने मेरे कार्य के लिये मायावती में अपने प्राण दे दिये।"

आश्रम के संचालन हेतु उन्होंने अपने शिष्यों को अनेक उपदेश दिये। ऐसे ही उपदेश के अवसर पर एक दिन वे स्वामी स्वरूपानन्द व अन्य शिष्यों से बोले "यदि पांच मिनट और पांच वर्षों एक मिनट के लिए भी मन को एक विषय पर एकाग्र कर सको तो वही यथेष्ट है और इसे करने के लिए प्रतिदिन सुबह-शाम एक समय निश्चित करके अभ्यास करना होगा, बाकी समय पढ़ने-लिखने या जनसाधारण के लिए हितकर किसी कार्य में लगाते रहना। मैं चाहता हूँ कि मेरे शिष्य शारीरिक कृच्छ्रता के स्थान पर कर्म की ओर ही ज्यादा ध्यान दें। कर्म और है ही क्या? यह भी तो साधना और तपस्या का ही एक अंग है।"

मधुकरी के सम्बन्ध में उन्होंने अपने शिष्य स्वामी विरजानन्द से कहा - "हमारे अनुभवों से सीखो और व्यर्थ का कष्ट उठाकर शरीर को चौपट मत करो। हमलोगों ने शरीर को व्यर्थ ही कष्ट दिया। उसका फल क्या हुआ? जीवन का जो सबसे अच्छा समय था, उसी समय शरीर टूट गया और आज तक हम उसी के फलस्वरूप तकलीफ पा रहे हैं।" यह स्वामीजी की नवीन भावधारा थी जो त्यागमय जीवन को जीवकल्याण के निमित कर्म निरत बना दे रही थी मगर अपने शिष्य स्वामी विरजानन्द की अवधारणा, जो ध्यान-धारणा के अधिक निकट थी, के प्रति वे पूर्ण रूप से श्रद्धावान थे। प्रत्यक्ष रूप से विरजानन्द को डांटते हुए भी स्वामीजी ने उनके चले जाने पर उनके मत का पोषण करते हुए कहा था— "ध्यान धारणा और स्वाधीन जीवन, इन्हीं में संन्यास जीवन का प्रधान गौरव निहित है।"

इस संक्षिप्त प्रवास काल में स्वामीजी का अधिकांश समय आश्रम में ही व्यतीत हुआ। ६ जनवरी को चम्पावत के दर्शनार्थियों की एक टोली, ९ को चौनापानी से बंगाल के भूतपूर्व लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के पुत्र श्रीयुत वीडन व ११ को तहसीलदार व अन्य कुछ लोग उनसे मिलने आश्रम में आये। १३ जनवरी को स्वामीजी की जन्म-तिथि थी। वे अड़तीस वर्ष पूरे कर उन्तालीसवें वर्ष में प्रवेश कर रहे थे। इन थोड़ी-सी हलचल के सिवाय उनका समय एकान्त चिन्तन, लेखन व उपदेशों में बीत रहा था। एक दिन प्रातः वे आश्रमवासियों के साथ उस स्थान से ऊँचा चढ़कर धरमगढ़ जो डेढ़ मील उपर था, गये। वह स्थान स्वामीजी को इतना पसन्द आया कि वे वहाँ एक आश्रम स्थापित कर साधन-भजन करने लगे। उस स्थान से हिमालय की तुषारमण्डित दृश्यावली में नीलकण्ठ, त्रिशूल, नन्दादेवी, नन्दाकोट तथा पंच-चूली शिखरों का विहंगम दृश्य दिखाई पड़ता है।

आश्रम की भूमि के अन्दर एक पहाड़ के शिखर के समीप वर्षा के एकत्रित जल से निर्मित सरोवर स्वामीजी को बहुत पसन्द आया था। उन्होंने अपने उद्‌गार इन शब्दों में व्यक्त किये थे - "अपने जीवन के अन्तिम भाग में मैं समस्त जनहित के कार्यों को छोड़कर आऊँगा और ग्रन्थ रचना तथा संगीत में अपना समय बिताऊँगा।" जाड़े के मौसम में इस सरोवर के जमे बर्फ से आईसक्रीम बनाकर विरजानन्दजी ने स्वामीजी को खिलाया और वे अति आनन्दित हुए।

स्वामीजी का सरल शिशुवत स्वभाव आश्रमवासियों को अनेक बार अतिहर्षित कर डालता था तब वे एक-दूसरे ही पुरुष दीख पड़ते थे। ऐसा ही एक प्रसंग स्वामी विरजानन्द द्वारा उल्लेखित है। एक दिन भोजन तैयार होने में विलम्ब को असह्य जानकर स्वामीजी सबको फटकारते रसोईघर तक जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्वामी विरजानन्द को गीली लकड़ियों में फूँक मारते, धुँए के मध्य आँसुओं से तरबतर पाया। अब उनसे कुछ कहने की गुँजाइश न पाकर

स्वामीजी उलटे पांव लौट आये और मुंह फुलाकर बैठ गये। भोजन आने पर वे बोले—'जा, लेजा मैं नहीं खाऊँगा।' थोड़ी देर बाद उनकी नाराजगी स्वयं दूर हो गयी और प्रतीक्षा निरत शिष्य से वे प्रसन्नचित हो बोले "अब समझ में आया कि मैं क्यों इतना नाराज हो गया था। बड़ी भूख लगी थी इसलिए।" स्वामीजी को अपनी नाराजगी का कारण ही समझ में नहीं आया, अपितु यह भी समझ में आया कि बरसात में लकड़ियों के भीग जाने पर भोजन बनाने में ऐसे ही पापड़ बेलने पड़ते हैं।

इस हास्य प्रसंग के रस के उपरान्त एक अपेक्षाकृत कसौला प्रसंग भी हमारी स्मृति से गुजर रहा है जो आश्रम में बाह्य पूजा के संदर्भ में था जिसकी स्वामीजी ने बिल्कुल मनाही की थी। स्वामी विरजानन्द के नेतृत्व में एक कमरे में ठाकुर की पूजा का जो अनुष्ठान होता था वह स्वामीजी की नजर से छिप न सका और उसे उन्होंने अपने मत व अद्वैत आश्रम के नियमों का उलंघन माना, मगर सीधे कुछ नहीं कहा, हाँ इसके लिए बाह्य पूजा की असारता पर एक व्याख्यान दे डाला और श्रीमती सेवियर व स्वरूपानन्द की भर्त्संना की। स्वामीजी का मत जानकर सभी लज्जित हुए और १८ मार्च, १९०२ से सदा के लिए उठा दिया गया। पूजा अनुष्ठान का कार्य उसी समय वन्द हो गया मगर इस विषय में स्वामी विमलानन्द महाराज का संशय बना रहा। उन्होंने श्री श्रीमाँ सारदा देवी को पत्र लिखकर समाधान जानना चाहा। श्रीमाँ ने सब कुछ सुना और ३१ अगस्त के पत्र में लिखवाया - श्री गुरुदेव (रामकृष्ण) अद्वैतवादी थे और उन्होंने अद्वैत साधना का प्रचार किया। उनके शिष्य होकर तुम अद्वैत साधना के विरूद्ध क्यों खड़े होगे? उनका प्रत्येक शिष्य ही अद्वैतवादी है।"

इस प्रकार सभी का संशय जाता रहा और आज भी इस आश्रम में प्रत्येक के लिए निर्देश है कि वह अपने-अपने कमरे में ही जप-ध्यान करे। इस घटना पर विनोद करते हुए रसिकराज स्वामीजी ने बेलुड़ लौटकर कहा था—"मेरी इच्छा थी कि कम-से-कम हमारा एक मठ ऐसा रहेगा जिसमें किसी प्रकार की बाह्य पूजा तथा श्रीरामकृष्ण की मूर्ति आदि न होगी, परन्तु मायावती में जाकर देखा कि बूढ़े बाबा वहाँ भी आसन जमाकर बैठे हैं।' अच्छा, अच्छा।"

पत्रकारिता व लेखन कार्य - मायावती आश्रम में स्वामीजी ने पत्रकारिता के क्षेत्र में अपना अन्तिम महत्त कार्य सम्पन्न किया। अपने ६ जनवरी के पत्र में वे श्रीमती ओली बुल को सूचित कर रहे हैं कि उन्होंने श्री जगदीशचन्द्र बसु के अनुरोध पर ऋग्वेद के 'नारदीय सूक्त' का अनुवाद कर उन्हें भेज दिया है। इस अनुवाद कार्य के उपरान्त उन्होंने ३ महत्वपूर्ण लेख इसी आश्रम में लिखे जो इस प्रकार हैं। १. आर्य और तमिल, २. सामाजिक सम्मेलन भाषण ३. थियोसॉफी पर कुछ स्फुट विचार। इन तीनों लेखों का संग्रह विवेकानन्द साहित्य खण्ड-९ में किया गया है। थियोसॉफी पर स्फुट विचार उनके कागजों में प्राप्त हुई रचना थी। तीनों लेख उन्होंने मायावती से प्रकाशित हो रही अंग्रेजी पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' के लिए लिखे थे। इन लेखों में उनके ऋषित्व की छाप साफ दिखाई पड़ती है जो किसी प्रकार सत्य समझौता नहीं करता है मगर दूसरी ओर उनके विशाल कोमल हृदय से सभी के लिए स्नेह का वितरण अनवरत रूप से प्रवाहित होता है। यही वह बात है जो उन्हें बुद्ध के रूप में खड़ी कर देता है और श्रद्धा-भक्ति से नतमस्तक होने को बाध्य कर देती है। बुद्धि पर हृदय की विजय और उसका जन जन में प्रसारण विवेकानन्द की इसमें

देखकर कोई छवि सामने टिकती ही नहीं। धन्य है उनका वह हृदय जो एक कीड़े के लिए भी रो उठता था और अपनी मुक्ति को तुच्छ कहकर नकार देता था।

अब हम स्वामीजी के इन तीनों लेखों पर संक्षिप्त चर्चा करेंगे जो उपरोक्त बातों को सिद्ध होने में सहायक रहेगा।

१. आर्य और तमिल—यह एक ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण सारगर्भित लेख है। इस लेख में वे लिखते हैं—"जहाँ तक हम वेदान्तियों व संन्यासियों की बात है, हमें वेदों के अपने संस्कृत भाषी पूर्वजों पर गर्व है, हमें अपने तमिल भाषी पूर्वजों पर अभिमान है हमें गर्व है कि हम जन्म लेते हैं, कर्म करते हैं और यातनायें झेलते हैं। हमें और भी अधिक गर्व है कि अपना कार्य समाप्त हो जाने पर हम मृत्यु को प्राप्त होते हैं और सदा सर्वदा के लिए उस लोक में प्रवेश करते हैं, जिसमें फिर और कोई मायाजाल नहीं है।"

२ थियोसॉफी पर स्फुट विचार—एक सच्ची समालोचना है जो इतनी अद्‌भुत शैली में प्रतिपादित की गयी है कि उसे पत्रकारिता का उत्कृष्ट नमूना कहा जा सकता है। आइए थियोसॉफिकल सोसाइटी की २१वीं वर्षगांठ के अवसर पर लिखी इस सूक्ष्म व्यंगात्मक रचना का कुछ आस्वादन कर लिया जाय—"थियोसॉफी द्वारा हर देश में जो तत्कालिक प्रत्यक्ष महान कल्याण हमारी दृष्टि से हुआ है, वह है यक्ष्मा के रोगी के फेफड़ों में दिए जाने वाले प्रो० कोच के इन्जैक्सनों की भांति स्वस्थ, आध्यात्मिक कर्मठ और देशभक्त लोगों को पाखण्डियों, अस्वस्थ और आध्यात्मिक होने का ढोंग करने वाले पतनशील व्यक्तियों से अलग कर देना।"

३. सामाजिक सम्मेलन भाषण में वे लाहौर अधिवेशन में न्यायमूर्ति श्री रानाडे के भाषण पर तीव्र प्रतिवाद लिखते हैं जिन्होंने संन्यास के प्रति विद्वेषपूर्ण वक्तव्य दिया था।

स्वामीजी ने रानाडे के मत का खण्डन करते हुए भारत के लिए संन्यासी सम्प्रदाय को सदा आवश्यकीय व धर्म रक्षक सिद्ध करते हुए लिखा—

"संन्यासी धार्मिक विशेषण है; क्योंकि उसने धर्म को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य बना लिया है। वह भगवान का सैनिक है। कौन-सा धर्म तब तक मर सकता है, जब तक उसमें श्रद्धालु संन्यासियों का समुदाय बना रहता है।" अन्त में वे लिखते हैं—"श्री रानाडे और समाज सुधारकों जिन्दाबाद! पर ओ अभागे भारत! आंग्लभूत भारत। भोले बच्चे! मत भूलो कि इस समाज में कुछ ऐसी भी समस्यायें हैं, जिन्हें अभी न तो तुम समझ सकते हो न तुम्हारे पाश्चात्य गुरु ही। उन्हें हल करना तो दूर की बात है।"

हिमालय से विदाई हिमालय में अपनी कल्पना के इतनी शीघ्र साकार रूप ग्रहण करते और उसी सुनसान मठ में नरऋषि विवेकानन्द निवास, अपने आप में एक अद्‌भुत संयोग था। स्वामीजी एक ओर अपने शिष्यों को बड़े उत्साह से सेवाव्रत और कर्मयोग के प्रचार में प्रशिक्षित कर रहे थे तो दूसरी ओर वे उस चिरध्यानमग्न समाधिस्थ हिमालय के आमंत्रण को अस्वीकार भी नहीं कर पा रहे थे, जो उस समय बिलकुल पास खिसक आया था। चारों ओर बर्फ और शीत तथा उसके मध्य अखण्ड समाधि में लीन शंकर भगवान या प्रतीक हिमालय भला नरऋषि विवेकानन्द स्वयं को कैसे संभाल पाते। एक दिन भ्रमण करते हुए अपने शिष्य स्वरूप से वे बोले—"अन्य सब प्रकार के कर्मों को छोड़ मैं अपने जीवन के शेष दिनों को इसी मठ में व्यतीत करूँगा और पुस्तकें आदि लिखूँगा, बालकों की तरह आनन्द से सरोवर के तट पर घूमता फिरूँगा।"

मगर पहाड़ों के प्रतिकूल मौसम व अपनी शारीरिक समस्याओं के कारण उन्हें शीघ्र वापस

बेलुड़ लौट आने को बाध्य होना पड़ा। उन्हें शीघ्र ही उस हिमालय से विदाई लेनी पड़ी जिसके बारे में अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा था —"मेरा स्थान तो हिमालय में है।" अपनी एक शिष्य को लिखा—"मुझमें इतना आशावाद आ गया है, मेरी कि यदि मेरे पंख होते तो मैं हिमालय उड़ जाता।" आज उसी हिमालय से विदाई का समय आ गया था मगर क्या यह सचमुच विदाई कही जा सकती है। निश्चय ही नहीं।

स्वामीजी अभी भी इस देवभूमि में विद्यमान हैं। वे स्वयं कह गये हैं —मेरा स्थान हिमालय में है। हो भी क्यों नहीं। हिमालय व गंगा को भारत की उस संस्कृति का सृजक होने का गौरव प्राप्त है जो आज उसे सींच रही है। आज भी वह महान वैदिक संस्कृति हिमालय के शिखरों पर व गंगा की धारा में प्रवाहित हो रही है। यदि भारत के अतीत व वर्तमान से इस हिमालय को पृथक कर दें तो शेष भारत के पास कुछ भी नहीं बचता है। इस देव भूमि के पुण्य तीर्थ मायावती में वे आज भी चिर ध्यानस्थ हैं जिसकी अनुभूति यहाँ आने वाला प्रत्येक साधक करता है। यहाँ से किसी के लिए खाली हाथ लौटने की गुंजाइश है ही नहीं। यहाँ चारों ओर स्वामीजी ही विद्यमान हैं।

१८ जनवरी सन् १९०१ ई० की प्रातः, १५ दिन मायावती में व्यतीत करने के उपरान्त स्वामीजी टनकपुर के रास्ते बेलुड़ मठ के लिए चल पड़े। पहला पड़ाव हुआ चम्पावत जहाँ डाकबँगले में उन्होंने अपने शिष्यों को अपने श्रीगुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्ण की बातें सुनाकर अभिभूत किया। स्वामीजी ने श्रीगुरुदेव की तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि की चर्चा की जिसमें वे अपने शिष्यों को ईश्वर कोटि व जीवकोटि आदि कहकर लक्ष्य करते थे, मगर उनकी उक्ति कभी भी गलत नहीं होती थी। वे भक्तों का भूत व भविष्य सब जान लेते थे। स्वामीजी बारम्बार दृढ़तर व उच्चतर कण्ठ में व्याख्यान देने के अन्दाज में कहने लगे —

"और चाहे जो भी हो, मैं उनके आदर्श से जरा-सा भी विचलित नहीं हुआ हूँ। पूरे हृदय से उन्हें मानकर चलता रहा हूँ।"

चम्पावत से देवरी होते हुए स्वामीजी टनकपुर पहुँचे। अगले दिन पीलीभीत तक का मैदानी रास्ता घोड़े में तय किया। पीलीभीत से ट्रेन पर सवार हो स्वामीजी २४ जनवरी को बेलुड़ पहुँचे। गुरुभ्राताओं व शिष्यों को उत्साहपूर्वक वे मायावती की घटनायें व बातें बतलाने लगे, बस उन्हें एक ही खेद रह गया था कि ऐसे नयनाभिराम, साधनानुकूल देवस्थान पर वे अधिक नहीं ठहर सके। जय स्वामीजी महाराज।

धर्मशास्त्र

—ब्र० मोक्ष चैतन्य
बेलुड़ मठ

धर्म शब्द का अर्थ

धारणार्थक 'धृ' धातु से 'धर्म' शब्द प्रतिपन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'धारण करने वाला'। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व को जो धारण करता है अर्थात् उनके अस्तित्व की रक्षा करता है, वही धर्म है। इसीलिए धर्म की परिभाषा देते हुए महर्षि वेद व्यास ने महाभारत (शान्ति पर्व) में लिखा है—

धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

अतएव, धर्म शब्द का अर्थ बहुत ही व्यापक है। उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार निम्नलिखित अर्थों में धर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है –

(१) सत्य --अर्थात् सत्यस्वरूप परमात्मा जो इस चराचर जगत् के परमाश्रय हैं।

(२) ऋत - अर्थात् विश्व-व्यवस्था (Cosmic order) जिसके अधीन सम्पूर्ण विश्व चल रहा है। अथर्ववेदान्तर्गत पृथ्वी सूक्त में कहा गया है – "सत्यं वृहद् ऋतम् उग्रं···पृथ्वीं धारयन्ति" अर्थात् महान् सत्य तथा शक्तिशाली ऋत इत्यादि पृथ्वी को धारण किये हुए हैं।

(३) स्वभाव अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का विशेष गुण जो उसे अन्य सभी पदार्थों से पृथक् करता है। जैसे अग्नि की दहन-शक्ति।

(४) समाज व्यवस्था (Social order)—जिसके अन्तर्गत विधि (Law), प्रशासन (Administration) एवं न्याय (Justice) इत्यादि आते हैं।

(५) नैतिक मूल्य (Moral values) – जिसका पालन मानव मात्र को करना है।

(६) व्यक्तिगत कर्म (Individual duty)-अर्थात् समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए निर्दिष्ट कर्तव्य-कर्म। इसे ही हिन्दू-शास्त्रों में वर्णाश्रम-धर्म कहा गया है क्योंकि हिन्दू समाज में कर्त्तव्य-कर्मों का निर्धारण वर्णाश्रम के आधार पर किया गया है। अतएव धर्म शब्द का अर्थ है—'गृहस्थादि चतुर्विध आश्रमों में ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों के द्वारा अनुष्ठेय कर्तव्य-कर्म।' इसके अन्तर्गत सांसारिक (secular) एवं धार्मिक (Religious) दोनों प्रकार के कर्म आते हैं।

कर्तव्य-कर्मों के अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम छान्दोग्य-उपनिषद् (२·२३·५) में दीख पड़ता है। तैत्तिरीय-उपनिषद् (१·११·१) में भी धर्म शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जहाँ विदाई ग्रहण करने वाले शिष्यों को अन्तिम उपदेश देते हुए गुरु कहते हैं—"सत्यं वद। धर्मं चर।" गीता में भी भगवान श्री कृष्ण धर्म शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में करते हैं; यथा—"श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्" (गीता ३·३५, १८·४७)। आचार्य शंकर ने भी अपने गीताभाष्य की भूमिका में लिखा है—'जो जगत की स्थिति का कारण तथा प्राणियों की सांसारिक उन्नति और मोक्ष का साक्षात् हेतु है एवं कल्याणकारी ब्राह्मणादि अवलम्बियों द्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता है उसका नाम धर्म है।' अन्यान्य हिन्दू शास्त्रों में भी धर्म शब्द का प्रयोग कर्तव्य-कर्मों के अर्थ में ही साधारणतः हुआ है।

अतएव धर्मशास्त्र की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में दी जा सकती है – 'वर्णाश्रम-धर्म का उपदेश करने वाले शास्त्र को धर्मशास्त्र कहते हैं।' अथवा 'गृहस्थादि चतुर्विध आश्रमों में ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों द्वारा अनुष्ठेय कर्तव्य-कर्मों का प्रतिपादन जिस शास्त्र में किया गया है, वही धर्मशास्त्र है।' तन्त्र वार्तिककार ने भी कहा है – "सर्वधर्मसूत्राणां वर्णाश्रम धर्मोपदेशात्" – अर्थात् 'सभी धर्मसूत्रों का उद्देश्य वर्णाश्रम-धर्म का उपदेश करना है।' यहाँ पर यह बात याद रखनी चाहिए कि कर्तव्य-कर्मों के अलावे समाज व्यवस्था (विधि, प्रशासन, न्याय इत्यादि) तथा नैतिक मूल्य सभी धर्मों का भी प्रतिपादन धर्मशास्त्रों में किया गया है, क्योंकि इसके साथ मानव-जीवन का अभिन्न सम्बन्ध है।

● धर्म का उद्देश्य

धर्म की परिभाषा देते हुए आचार्य शंकर ने इसके उद्देश्य का भी स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है - 'जो प्राणियों की सांसारिक उन्नति और मोक्ष का साक्षात् हेतु है'। अतएव धर्म का उद्देश्य द्विविध है (१) सांसारिक उन्नति एवं (२) मोक्ष-प्राप्ति; जिसे शास्त्रों की भाषा में 'अभ्युदय' एवं 'निःश्रेयस' कहा गया है। इसीलिए वैशेषिक-सूत्र

में धर्म की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में दी गयी है--

"यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।"

कुछ लोग यह आरोप लगाते हैं कि हिन्दू धर्म केवल मोक्ष-प्राप्ति पर बल देता है और इस संसार को अवहेलना करता है। लेकिन उन्हें पता नहीं कि हिन्दू धर्म न केवल मोक्ष का उपाय बताता है बल्कि सांसारिक सुख-शांति का भी पथ प्रदर्शन करता है। हाँ, यह बात सत्य है कि हिन्दू धर्म में सांसारिक भोग ही जीवन का अन्तिम आदर्श नहीं है, अन्तिम आदर्श है मोक्ष। अतएव, भोग एवं योग हिन्दू धर्म के दो सोपान हैं। महाभारत (शान्तिपर्व) में महर्षि व्यास ने कहा है--"द्वाविमौ अथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः" - अर्थात् 'वेद दो मार्गों का विधान करते हैं।' इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर अपने गीता भाष्य की भूमिका में कहते हैं- "द्विविधो हि वेदोक्त धर्मः प्रवृत्ति-लक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च'।

❀ धर्म के उत्स

महर्षि मनु ने धर्म के पाँच उत्सों का उल्लेख अपने निम्नलिखित श्लोकों में किया है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेवच ॥

—अर्थात् 'वेद स्मृति, वेदज्ञ पुरुषों के आचरण, सज्जनों के व्यवहार एवं आत्मसंतुष्टि—धर्म के ये पाँच उत्स हैं।' वेद को धर्म का प्रधान उत्स माना गया है। इसीलिए मनु ने कहा है - "वेदोऽखिलो धर्म-मूलं।" लेकिन वेद में धर्म संबंधी उपदेश एकत्र नहीं पाये जाते हैं, यत्र-तत्र धर्म का विधान है। वेद के बाद ही स्मृति का स्थान है। स्मृति ग्रन्थों में वेदोक्त-धर्म का एकत्र एवं क्रमबद्ध उपदेश प्राप्त होता है। स्मृतिग्रन्थों की प्रामाणिकता वेद सापेक्ष है। वेदोक्त धर्म का उपदेश करने पर ही स्मृति-ग्रन्थ मान्य है। इसीलिए महर्षि मनु अपने स्मृति-ग्रन्थ में कहते हैं—

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः
स सर्वोऽभिहितो वेदे"

-- अर्थात् 'मनु के द्वारा जिस किसी व्यक्ति के प्रति जिस किसी धर्म का उपदेश दिया गया है, वह सभी वेदोक्त हैं।'

❀ स्मृति ही धर्मशास्त्र है

स्मरणार्थक 'स्मृ' धातु से 'स्मृति' शब्द बना है, जिसका अर्थ है 'स्मरण'; अर्थात् पूर्व प्राप्त ज्ञान की यादगारी। जब हम किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करते हैं, तब वह हमारे मन पर एक संस्कार छोड़ जाता है और इस संस्कार के सहारे पूर्व प्राप्त ज्ञान का उदय जब हमारे मानस-पटल पर होता है तो उसे स्मृति कहते हैं। वेदाध्ययन, परम्परा एवं स्वयं के अनुभव से प्राप्त ज्ञान का स्मरण करके ऋषि-मुनियों ने जिन ग्रन्थों की रचना की है, उन्हें भी प्रकारान्तर से 'स्मृति' की संज्ञा दी गयी है क्योंकि ये सभी ग्रन्थ स्मृति ज्ञान पर आधारित हैं।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि श्रुति भिन्न सभी ग्रन्थ स्मृति की श्रेणी में आते हैं। स्मृति शब्द का यही व्यापक अर्थ है। यहाँ तक कि दर्शन-ग्रन्थों को भी स्मृति के अन्तर्गत ही माना गया है। लेकिन विशेष अर्थ में मनु, याज्ञवल्क्य प्रभृति ऋषियों द्वारा रचित धर्मग्रन्थों को ही स्मृति कहते हैं; स्मृति शब्द का यही प्रचलित अर्थ है। जैसे मनु रचित धर्म ग्रन्थ को मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य रचित धर्म ग्रन्थ को याज्ञवल्क्यस्मृति कहा जाता है। इसी तरह धर्म का प्रतिपादन करने वाले सभी ग्रन्थ धर्मशास्त्र हैं। जैसे—वेद, पुराण, इतिहास (रामायण एवं महाभारत), मनुस्मृति इत्यादि। लेकिन प्रचलित अर्थ में केवल मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि धर्मग्रन्थों को ही धर्मशास्त्र की संज्ञा दी गयी है। इसका कारण यह हो सकता है कि मनुस्मृति आदि ग्रन्थों का उद्देश्य एकमात्र धर्मोपदेश करना है जबकि अन्यान्य धर्मग्रन्थ विविध विषयों का प्रतिपादन

करते हैं। स्मृति एवं धर्मशास्त्र के प्रचलित अर्थों को ग्रहण करके ही महर्षि मनु ने कहा है - "श्रुति तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रम् तु वै स्मृति'

अर्थात् 'श्रुति शब्द से वेद तथा स्मृति शब्द से धर्म-शास्त्र समझना चाहिए।' मनुस्मृति प्रभृति धर्मशास्त्रों को संहिता भी कहा जाता है। जैसे मनुसंहिता, याज्ञवल्क्य संहिता इत्यादि।

● धर्मशास्त्र की रचना एवं प्रतिपाद्य विषय :

धर्मसूत्रों को धर्मशास्त्रों का आधार माना गया है। जैसा कि पहले कहा गया है, वेद ही धर्म के प्रधान उत्स हैं। लेकिन वेद में धर्म संबंधी विधि-निषेध एकत्र नहीं पाये जाते हैं। धर्म संबंधी उपदेशों को एकत्रित करने का प्रथम प्रयास धर्म-सूत्रों में किया गया है। कल्पसूत्र नामक वेदाङ्ग को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है— श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र। प्राचीन श्रौत यज्ञों की प्रणाली जिन सूत्रग्रन्थों में ग्रंथित हैं, उन्हें श्रौतसूत्र कहते हैं। गृहस्थों के द्वारा अनुष्ठेय पंच महायज्ञ एवं उपनयन, विवाह आदि संस्कार जिनमें लिपिवद्ध हैं, उन्हें गृह्यसूत्र कहते हैं तथा वर्णाश्रम धर्म संबंधित विधि-निषेधादि जिन ग्रन्थों में निबद्ध हैं, उन्हें धर्मसूत्र कहते हैं। वशिष्ठ, गौतम, बोधा-यन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, कात्यायन आदि ऋषियों के द्वारा लिखित धर्मसूत्र अभी उपलब्ध हैं। गौतमीय आदि कुछ धर्मसूत्र कल्पसूत्र के अंग नहीं हैं; ये स्वतन्त्र रूप से लिखे गये हैं।

धर्मसूत्र सूत्राकार में लिखित होने के कारण वहुत ही संक्षिप्त तथा अव्यवस्थित है। अतएव ऐसे धर्मग्रन्थों की आवश्यकता थी जिनमें धर्म का प्रतिपादन क्रमवद्ध एवं विस्तृत रूप से किया गया हो। इसी आवश्यकता की पूर्ति धर्मशास्त्रों के प्रणयन द्वारा की गयी है। ये श्लोकाकार में रचित हैं। याज्ञवल्क्य ने निम्नलिखित श्लोक में बीस प्रधान धर्मशास्त्रकारों का नामोल्लेख किया है—

मनु - अत्रि - विष्णु - हारीत - याज्ञवल्क्य - उशना - अङ्गिराः।
यम - आपस्तम्ब - संवर्त्तःकात्यायन - वृहस्पती॥
पराशर - व्यास - शङ्ख - लिखिता दक्ष - गौतमौ।
शातातपो वशिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥

इसके अतिरिक्त बोधायन, नारद, प्रभृति धर्म-शास्त्रकारों के नाम भी विशेषरूप से उल्लेख योग्य हैं। इनमें मनु, याज्ञवल्क्य, नारद तथा पराशर प्रवृति ऋषियों द्वारा रचित धर्मशास्त्र ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें भी मनुस्मृति का स्थान सर्वोपरि है।

धर्मशास्त्रों में धर्म-संबंधी निम्नलिखित विषयों की क्रमबद्ध एवं विशद चर्चा की गयी है— धर्म के उत्स या प्रमाण, चतुर्विध आश्रमों में चतुर्वर्णों के अधिकार एवं कर्त्तव्य, जातकर्मादि विविध संस्कार, चतुर्वर्णों की जीविका, भक्ष्याभक्ष्य विचार, अशौच, श्राद्ध-कर्म, राजाओं के अधिकार एवं कर्त्तव्य, नैतिक आचरण, ऋण, स्वामीत्व, उत्तराधिकार, सम्पत्ति-भाग, साक्षी, अपराध, न्याय, दण्ड, प्रायश्चित इत्यादि। उपर्युक्त विषयों को याज्ञवल्क्य ने तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। वे हैं - (१) आचार (वर्णाश्रमधर्म, नैतिक धर्म इत्यादि), (२) व्यवहार (समाजनीति, राज-नीति, न्याय, दंड इत्यादि) एवं (३) प्रायश्चित।

विविध धर्मशास्त्रों के आपात विरोधों का समन्वय करने के लिए तथा देश-काल-पात्र के अनुसार उनके विधानों में आवश्यक परिवर्तन करने के लिए परवर्तीकाल में कई विद्वानों ने निबन्धों की रचना की है।

● उपसंहार

मानव जीवन के हर पहलू पर धर्मशास्त्रों में विचार किया गया है। मानवीय समस्याओं के संबंध में स्मृतिकारों को कितनी गहरी समझ थी, यह उनकी रचनाओं को पढ़ने से ही मालूम होता

है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों ने हजारों वर्षों से हिन्दुओं के आचार-व्यवहार को नियंत्रित किया है। उनकी सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन-धारा को सही दिशा दी है और भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को अग्रगति प्रदान की है। सामाजिक शांति एवं सुव्यवस्था को कायम रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति को धर्म का मार्ग दिखाकर अभ्युदय एवं निःश्रेयस अर्थात् भोग एवं योग की प्राप्ति करना ही धर्मशास्त्रों का उद्देश्य है। जबतक धर्म के प्रति श्रद्धा रखते हुए उसका अनुसरण अपने जीवन में करता है तबतक मनुष्य चतुर्विध पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) को प्राप्त कर अपने मानव-जीवन को कृतार्थ करता है। लेकिन कालवश धर्म की ग्लानि उपस्थित होती है और अधर्म का बोलबाला हो जाता है तथा लोग अधर्म का मार्ग अपनाकर इतो नष्टः ततो भ्रष्ट हो जाते हैं। तब अधर्म का नाश करने के लिए एवं धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए भगवान स्वयं नरदेह धारणकर अवतरित होते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—

"धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।" अर्थात् 'धर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में अवतरित होता हूँ।'

वर्तमान युग में श्रीरामकृष्णदेव ने इसी कारण नर देह धारण कर अवतार ग्रहण किया।

देवलोक

—ब्रह्मलीन स्वामी अपूर्वानन्द
अनुवादक—स्वामी ज्ञानातीतानन्द
रामकृष्ण आश्रम, राजकोट।

एकादश परिच्छेद

महापुरुषजी का स्नेह

महापुरुषजी काशी आ रहे हैं, यह समाचार पाकर कनखल से स्वामी कल्याणानन्द महाराज महापुरुषजी को कनखल लाने के लिए सानुनय आमन्त्रण पत्र और गाड़ी भाड़ा के रुपये के साथ एक ब्रह्मचारी को काशी भेजा था। अतः महापुरुष जी के कनखल जाने के बारे में दोनों आश्रमों के साधुओं के बीच आलोचना होने लगी। पुराने साधु कहने लगे : संघाध्यक्ष को ले जाने के लिए स्वामी कल्याणानन्द को स्वयं आना उचित था। और किसी ने कहा : इस शीतकाल में कनखल जाना ठीक नहीं होगा—महापुरुषजी का शरीर और खराब हो सकता है; इत्यादि नाना बातें साधुओं के बीच होने लगी। अन्त में एक केदार बाबा दोनों आश्रमों के साधुओं के प्रतिनिधि रूप में आकर महापुरुषजी को प्रणाम करके बोले : "आप इस समय कनखल मत जाइए। दोनों आश्रमों में किसी की इच्छा नहीं है कि आप जायँ। कल्याण महाराज को आने के लिए लिख दीजिए। उनके आने से सब के साथ मिलना भी हो जाएगा। वे भी बहुत दिन से आये नहीं हैं।" केदार बाबा की बात सुन कर महापुरुषजी खूब धीरभाव से कहने लगे 'तुम लोग जो कहते हो सब

ठीक है। कल्याण का आना ही उचित था, लेकिन कल्याण ने खूब कातर भाव से मुझे लिखा है। वहाँ जाने से सबके साथ मुलाकात भी हो जाएगी। आने जाने में जो कष्ट होगा वह समझता हूँ, तब भी ऐसा सोचता हूँ कि ठाकुर के कार्य के लिए मेरा जाना उचित होगा। देखो, केदार बाबा, स्नेह निम्नगामी। कल्याण मुझको देखना चाहता, इसीलिए सोचता हूँ जाऊँगा। अवश्य ही सब कुछ ठाकुर की इच्छा पर निर्भर करता है। ठाकुर की इच्छा हो तो मैं जाऊँगा, ऐसा निश्चित किया है।' केदार बाबा इसके बाद और कुछ न बोलकर उनको प्रणाम कर चले गये एवं सभी को कहने लगे — 'महापुरुष महाराज कनखल जाने के सम्बन्ध में जिस प्रकार बोले उससे मैं मुग्ध हो गया हूँ। ठाकुर के कार्य के ऊपर उनका कितना आकर्षण है और कल्याण महाराज के ऊपर उनका कितना गम्भीर स्नेह! इसी ठंढी में कनखल जाएँगे, यह ठीक किया है।'

कनखल में महापुरुष महाराज

चार-पाँच दिन के बीच में ही महापुरुषजी कनखल की यात्रा पर आ गये। मुझको छोड़ कर प्रिय महाराज (स्वामी आत्म प्रकाशानन्द) को साथ में लिया, कनखल के साधु तो साथ में थे ही। हरिद्वार स्टेशन में गाड़ी पहुँचते ही देखा गया कि स्वामी कल्याणानन्दजी और निश्चयानन्दजी आदि अनेक साधु महापुरुषजी का स्वागत करने आये थे। कनखल में आकर महापुरुषजी खूब आनन्दित हुए। इस समय वृष्टि होने से सामने का चण्डी पहाड़ एवं और अधिक ऊँचे पहाड़ पर बर्फ पड़ने से हिमालय की अनुपम शोभा हो रही थी। बर्फ देखने से उनको कितना आनन्द हुआ। वे प्रसन्न होकर बोले 'बहुत साल से बर्फ देखा नहीं था, इसीलिए तो गिरिराज शुभ्ररूप धारण किए हुए है, हेमवती ने सफेद रूप धारण किया है। बर्फ नहीं होने से क्या हिमालय अच्छा लगता है?'

महापुरुषजी के सम्बन्ध में एक पंडित ज्योतिषी का विचार—

महापुरुषजी के शुभागमन का संवाद सुन हरिद्वार भीमगोड़ा, ऋषिकेश आदि स्थानों में तपस्यारत साधुगण भी कनखल आश्रम में इकट्ठे हो गये। इन्हीं साधुओं के बीच में दक्षिण-कलकत्ता के चेतला अंचल के एक ब्राह्मण, भूतपूर्व हेडपंडित महाशय भी थे। वे पंडितजी के नाम से प्रख्यात थे। महापुरुषजी उनको खूब स्नेह करते थे। वे उनका विशेष आशीर्वाद लेकर चतुर्थाश्रम की तरह तपस्या करने के लिए आये थे। महापुरुषजी के कनखल आने के दूसरे दिन सायंकाल पंडितजी संन्यासप्रार्थी होकर कनखल आये। महापुरुषजी नीचे के बड़े घर में सो रहे थे। उनके पैर थोड़े खुले हुए थे। मैं घर के दरवाजे पर बैठ कर उनके उठने की प्रतीक्षा कर रहा था। महापुरुषजी के उठने में जितनी देरी हो रही थी, पंडितजी उतना ही अधीर होकर एकटक उनकी ओर देखते हुए मुझसे विनम्र स्वर में बोले—'मैं घर के भीतर जाकर महापुरुषजी के पैरों के पास बैठना चाहता हूँ।' महापुरुषजी पंडितजी को खूब स्नेह करते थे, यह मैं जानता था, इसलिए मैंने कहा —'अच्छा ठीक है, किन्तु उनका पैर स्पर्श मत करिएगा —वैसा करने से उनकी नींद टूट जाएगी।' वे सिर नीचा कर सम्मति जता कर धीरे-धीरे महापुरुषजी के पैर के पास जाकर बैठे एवं श्वास प्रश्वास की गति और पैर के तलुवे को खूब ध्यान से देखने लगे। उनके देखने के ढंग से लगा कुछ परीक्षा कर रहे हैं। महापुरुषजी का मुख खुला हुआ। कुछ मिनट तक इस प्रकार महापुरुषजी को देख कर पंडितजी निःशब्द बाहर आकर मुझको इशारा करके एक तरफ बुला कर निम्नस्वर में बोले, 'देखिये, महापुरुषजी अस्सी वर्ष जीवित रहेंगे, बहुत हुआ तो एक-आध वर्ष इधर-उधर हो सकता है।' मैंने आश्चर्यचकित होकर पूछा : 'आपने कैसे

जाना ? आप क्या ज्योतिषी हैं ? अभी तो इनकी सत्तर भी नहीं हुई है।' वे खूब गम्भीर स्वर में बोले : 'मैंने ज्योतिष का अध्ययन किया है, फलित ज्योतिष मैं अच्छी तरह से जानता हूँ, हाथ-पैर की रेखा और चक्रादि का विचार किया हूँ, आयुर्वेद भी पढ़ा हूँ। आज उनके पैर का चक्र देख कर मालूम हुआ कि उनका बुद्ध के अंश से जन्म हुआ है एवं उनकी श्वास-प्रश्वास की गति देख कर उनके दीर्घायु होने के सम्बन्ध में निश्चित हुआ। बुद्धदेव के पैरों के नीचे जिस प्रकार गोलचक्र था, उसी प्रकार का गोल चक्र उनके पैर के नीचे है, परन्तु थोड़ा अस्पष्ट है। उसी से मेरी धारणा हुई है कि, उनको बुद्धदेव की पूरी आयु मिलेगी।' बाद में थोड़ा रुक कर बोले, देखिये, एक विशेष अनुरोध यही है कि आप यह सब किसी को मत कहिएगा। मेरी बात सत्य है कि नहीं केवल देखते जाइएगा। मैं हो सकता है तब तक बचूंगा नहीं, कारण आगामी वर्ष मेरा मृत्यु योग है।* इसीलिए इनके पास संन्यास देने की प्रार्थना करने आया हूँ।' मैं आश्चर्यचकित होकर पंडितजी की बात सुन रहा था, मालूम हो रहा था कि स्वप्न देख रहा हूँ। थोड़ी देर बाद ही महापुरुषजी उठ कर बैठ गये। मैंने साथ-ही-साथ उनको तमाखू दिया। पंडितजी भीतर जाकर महापुरुषजी को प्रणाम करके उनके दोनों पैर पकड़ कर आशीर्वाद की भिक्षा करके संन्यास की प्रार्थना की। महापुरुषजी प्रसन्न मुख से साधन भजन कैसा हो रहा है, पूछा तथा संन्यास के सम्बन्ध में आश्वासन दिया।

महापुरुषजी के शुभागमन पर कल्याण महाराज एक बड़ा पक्का भंडारा दिया। विभिन्न अखाड़ों के बहुत से बड़े-बड़े साधु इस भंडारा में आमंत्रित हुए थे। अन्यान्य मिष्टान के अतिरिक्त थाली के बराबर बड़े-बड़े खस्ते मालपुए बने थे। साधु लोग मधुर स्वर में श्लोकों की आवृत्ति करते हुए आनन्द से प्रतियोगिता करते हुए पूरा-पूरा मालपुआ खाने लगे। महापुरुषजी घूम-घूम कर साधु भोजन देखने लगे।

श्रीरामकृष्ण के प्रसंग में—

महापुरुषजी प्रायः प्रतिदिन आश्रम के साधुओं के साथ ठाकुर-स्वामीजी के बारे में बातचीत करते थे। एक दिन बातचीत में बोले : 'ठाकुर इस बार छद्मवेष में आये थे। कुछ थोड़े से लोग ही उनको पहचान सके थे। समय आने पर संसार उनका भाव ग्रहण करेगा। वे किसी देश विशेष या जाति विशेष के लिए नहीं आये थे, वे सारे विश्व के लिए आये थे। समग्र मानव जाति के कल्याण के लिए आये थे। जो राम, जो कृष्ण, जो बुद्ध, जो ईसा और गौरांगरूप धर कर आये थे, वे ही इस बार रामकृष्ण रूप में अवतीर्ण हुए थे। समय आने पर संसार उनको जान पाएगा—यही तो अभी संध्या हुई, सामने सारी रात्रि पड़ी है। समय आने पर सारा विश्व ठाकुर को अवतार रूप से ग्रहण करेगा। पूजा करेगा हमलोग उनका नाम संसार को सुनाएंगे इसीलिए जीवित हैं।

महापुरुषजी की उपस्थिति के समय अमेरिका के सैनफ्रांसिस्को के अध्यक्ष संन्यासी शिष्य स्वामी प्रकाशानन्दजी बहुत दिन के बाद भारत आये और शंकरानन्दजी के साथ बेलुड़ मठ से वृन्दावन आदि तीर्थ दर्शन करते कनखल गये। उनको पाकर महापुरुषजी खूब आनन्दित हुए। उस दिन ऊपर के ऊंचे पहाड़ पर बर्फ गिरने से खूब ठंढा हुआ था। महापुरुषजी साथ-ही-साथ मुझे बुला कर बोले : 'देखो, सुशील और अमूल्य इसी शीत में आये हैं। तुम जल्दी-जल्दी उन लोगों के लिए हाथ-मुँह धोने के लिए गरम जल करके लाओ और गरम-गरम चाय बना कर पिलाओ।' मैं साथ-साथ वही करने लगा।

श्रीरामकृष्ण के नाम से ही मुक्ति—

एक वयस्क एक दिन महापुरुष महाराज को

प्रणाम करके विनीत भाव से बोले : 'मेरी एक जिज्ञासा है। ठाकुर ने कहा है "जिसका यह अन्तिम जन्म है, उसको यहाँ आना हो होगा"— इस बात का तात्पर्य क्या है ? महापुरुषजी गम्भीर भाव से बोले : 'ठाकुर की इस बात का अर्थ मैंने यही समझा है, कि शरीर, मन और वचन से अन्तरतम से श्रीरामकृष्ण के अवतारत्व में विश्वासी होकर उनको श्रीभगवान का पूर्ण आविर्भाव मान कर ग्रहण किया है वही उनके घर आया है। एवं उसी का शेष जन्म है। ठाकुर को कोई-कोई श्रेष्ठ साधक मानता है, कोई कहता है कि वे एक सिद्ध पुरुष थे, और कोई कहता है कि वे कालीभक्त थे, कोई उनको ब्रह्मज्ञानी मानता है; इसमें से कोई भी उनको पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर पाया है। वे जो अवतार वरिष्ठ थे, मुक्तिदाता कृपामय स्वयं भगवान थे—यह जानना चाहिए, वह ज्ञान होना चाहिए। परन्तु यह भी सत्य है कि विचार-बुद्धि या साधन-भजन के द्वारा कोई उनको जान नहीं सकता। उनके कृपा करके बताने से ही उनको जान सकता है। जिस पर उन्होंने इस प्रकार कृपा की है वे ही धन्य, उनका ही अंतिम जन्म। ठाकुर ने भी एक समय कहा था— "जो यहाँ श्रद्धा करेगा और यहाँ का नाम करेगा, अंतिम समय उसको दर्शन देकर हाथ पकड़ कर ले जाऊँगा।" अंतिम समय में ठाकुर का दर्शन होने से हो तो मुक्ति—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। उनकी बात कभी भी मिथ्या नहीं हुई।'

कनखल सेवाश्रम में माँ के चित्र की पूजा के सम्बन्ध आपत्ति एवं महापुरुषजी—

एक दिन प्रातःकाल आश्रम के बहुत से साधु महापुरुषजी महाराज को प्रणाम करने आये थे। वे शीतकाल के कारण पास में एक अंगीठो रख कर कुर्सी पर बैठ कर तमाखू पी रहे थे। साधु लोग एक-एक कर प्रणाम कर खड़े हो गये, तब जीवन महाराज खूब विनीतभाव से बोले : 'मेरी एक जिज्ञासा है। बड़े स्वामी (स्वामी कल्याणानन्द) से सुना हूँ कि आप जब कनखल सेवाश्रम के ठाकुरघर में ठाकुर और माँ की छवि की पूजा प्रवर्तन कर चले गये, तब बाहर के साधु-कर्मचारी संन्यासी आश्रम में ठाकुर घर में माँ के चित्र की पूजा के सम्बन्ध में बड़ी आपत्ति उठाकर माँ की छवि आसन से उठा दिया एवं उसको ठाकुरघर की दीवाल पर टांग दिया गया। आप उस समय काशी में थे, ऐसा सुना है। बड़े स्वामी ने आपको यह सब गोलमाल का समाचार बताया तब आप कनखल चले आये एवं ठाकुरघर जाकर प्रणाम करके दीवाल से माँ की छवि उतार कर पूजा के आसन पर यथास्थान रखा। (तब) इस विषय में कोई भी कुछ बोलने का साहस नहीं कर सका।' जीवन महाराज की यह बात सुन कर महापुरुष महाराज साथ-ही-साथ खूब गम्भीर होकर बोले— 'उस सब विषय में बोलने पर बहुत-सी बात बोलनी होगी। १९०१ ई० के प्रारम्भ में (जब) स्वामीजी हरिद्वार अंचल में विशेष कर अस्वस्थ रुग्न साधुओं की सेवा के लिए एक सेवाश्रम की स्थापना करने के लिए कल्याण को भेजा, तब दूसरी बातों के साथ यह भी कहा था कि, "पहले जाकर तुम तीन मिट्टी का घर बनाना एवं एक घर में ठाकुर की छवि रख कर नित्य सवेरे-शाम ध्यान करना। जिस ठाकुर का ध्यान करते हो, वही ठाकुर रोगी, पीड़ित नारायणरूप में तुम्हारी सेवा ले रहे हैं—यही सोच कर सबकी सेवा करना। एक घर में तुमलोग रहना और एक झोपड़ी में रोगी नारायणदेव को रख कर सेवा करना। ध्यान और सेवा एक साथ चलेगा।" स्वामीजी का आदेश स्मरण करके कल्याणानन्द हरिद्वार आकर बहुत खोज कर थोड़े ही दिन में कनखल में निर्वाणी अखाड़ा के एक बड़े घर का तीन कमरा मासिक तीन रुपए भाड़े पर लेकर सेवाश्रम का कार्य प्रारम्भ किया और मैं इस अंचल में

स्वामीजी के आदेशानुसार प्रचारकार्य करने के लिए विभिन्न स्थानों में घूम रहा हूँ। यह जानकर कल्याण ने मुझसे कनखल आने का अनुरोध किया। मैं तब दुर्गापूजा के समय मेरठ में था। मठ में स्वामीजी दुर्गापूजा कर रहे हैं, यह खबर भी मिला। किन्तु स्वामीजी का आदेश स्मरण करके मठ नहीं गया। दुर्गापूजा के बाद ही मैं कनखल आया एवं कुछ ही दिन में एक घर में कल्याणानन्द मठ से ठाकुर और माँ का जो चित्र लाये थे, उसको रखकर पूजा और ध्यान आरम्भ कर दिया। क्रमशः विभिन्न अखाड़ों के साधुलोग ठाकुर घर में आकर ध्यान करना आरम्भ कर दिया। प्रातः-सायं धूप-धूना जलाकर हमलोग देर तक ध्यान करते इस समय मैंने कई महीने तक कनखल में रहकर कल्याणानन्द को विविन्न कार्यों में सहायता किया था। कल्याणानन्द का सेवाकार्य इस बीच साधुमण्डली का विशेष श्रद्धा आकर्षित किया था। कुछ दिन बाद निर्वाणी अखाड़े के एक साधू के ऊपर ठाकुरघर के देखभाल का कार्य भार देकर मैं देहरादून अंचल में सेवाश्रम के लिए कुछ रुपये इकट्ठा करने के लिए गया था। रुपया पैसा कुछ अधिक नहीं मिला, किन्तु कुछ-कुछ दवा आदि मिला था। देहरादून से लौट आने के कुछ दिन बाद १९०२ ई० के प्रारम्भ में स्वामीजी जनवरी महीने में वायुपरिवर्तन के लिए काशी आ रहे हैं यह समाचार पाकर मैं जल्दी-जल्दी काशी आ गया। कनखल में कल्याण तब अकेले ही था सवेरे-शाम ठाकुरघर में ध्यान करता। कनखल से आने के पहले सेवाश्रम के ठाकुर घर के देखभाल का कार्य जिस साधु के ऊपर दिया था, समाचार मिला कि वह साधु ठाकुर घर का कार्य ठीक ही कर रहा है। उसके कुछ महीने बाद जब मैंने स्वामीजी के आदेश से काशी आकर अद्वैत आश्रम की स्थापना किया तब कल्याण ने कनखल के ठाकुर घर के गोलमाल के विषय में बताकर मुझको कनखल जाने के लिए लिखा। मैं भी सुयोगानुसार कनखल जाकर ठाकुरघर में फिर से श्रीश्रीमाँ के चित्र को रखकर पूजा प्रारम्भ किया। तब किसी ने आपत्ति नहीं की। मैंने कुछ दिन से विभिन्न अखाड़े के पुराने साधुओं के साथ श्रीश्रीमाँ के सम्बन्ध में बातचीत किया था। ठाकुर माँ को किस दृष्टि से देखते थे, उनके संबंध में क्या क्या कहा था-- वह सब बातें उन लोगों से कही थी कि सारदा देवी एक साधारण स्त्री नहीं थीं, वे देवी दशमहाविद्या में से एक थी। श्रीरामकृष्ण ने उनकी षोडशोपचार से पूजा की थी। उनके सम्बन्ध में ठाकुर ने और भी कहा था-- "वह मेरी शक्ति, और सरस्वती, संसार को ज्ञान देने के लिए आयी है।" स्वामीजी ने सारदा देवी के सम्बन्ध में कहा था—"माँ जीवन्त दुर्गा है।" हमलोग भी मानते हैं, श्री रामचन्द्रजी के जिस प्रकार सीता, शिव के पार्वती, उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण की सारदा देवी। इस यात्रा में कनखल में कुछ दिन रह कर साधुओं के साथ श्री श्रीमाँ के महात्म्य के सम्बन्ध में बहुत बातचीत की थी। तब बहुत से साधू रोज ठाकुरघर में ध्यान करना आरम्भ कर दिया। इसके पहले ही निश्चयानन्द भी कल्याण के कार्य में सहायता देने के लिए आ गया था।" महापुरुषजी की बात समाप्त होने पर साधुओं ने पुनः प्रणाम करके उनसे विदा ली।

कनखल में महापुरुषजी का संन्यास और ब्रह्मचर्य दान-

यहाँ महापुरुषजी ने कनखल में दो लोगों को आनुष्ठानिक भाव से संन्यास एवं एक को ब्रह्मचर्य दिया था। इस संन्यास के विषय में आलोचना सुनकर कनखल के कई वृद्ध साधुओं ने मुझसे कहा --'महापुरुषजी संन्यास दे रहे हैं, तुम भी इसी समय पवित्र हिमालय में सतीक्षेत्र में संन्यास ले लो। उनको कहो।' उनलोगों की बात सुनकर मेरे मन में भी संन्यास लेने की इच्छा हुई।

इसीलिए एक रात्रि में उनके सोने की व्यवस्था करने के समय उनको प्रणाम करके कहा—'महाराज मुझको भी इनलोगों के साथ संन्यास दीजिए।' वे मेरे मुँह की ओर देखते हुए बोले—'तुम यहाँ क्यों संन्यास लोगे ?' तुम मठ के लड़के हो, मठ में ही तुमको संन्यास दूँगा। मैंने फिर दुबारा कुछ न कहकर, पुन. उनको प्रणाम कर काम में लग गया।

ब्रह्मकुण्ड दर्शन-

एक दिन सवेरे महापुरुषजी आश्रम के साधुओं के साथ ब्रह्मकुंड गये। मुझको भी साथ ले गये। कुंड के किनारे खड़े होकर खूब भक्तिपूर्वक कुंड को प्रणाम किया और स्तव करके मुझको कुंड से थोड़ा जल लाने के लिए कहा। साथ के साधुओं ने भी पूजा की। जल के हिलने से खूब बड़ी-बड़ी मछलियाँ आ गयी। हमलोग आटे की गोली एवं लाई साथ ले गये थे, वह फेंक दिया गया, मछलियाँ आनन्द से खाने लगी। अंत में हमलोगों के हाथ से मुँह बढ़ाकर आटे की गोली खाने लगी। महापुरुषजी यह देखकर खूब आनन्द करने लगे: 'देखो, कोई इनलोगों की हिंसा नहीं करता, इसीलिए ये मनुष्यों से नहीं डरती, कैसे मुँह आगे कर हाथ से लेकर खा रही है।' बाद में कहा, 'हमलोग जब इन सब जगहों में तपस्या करते थे, तब यहाँ घोर जंगल और निर्जन था। अब यहाँ चारों ओर लोगों के बस जाने से वह निर्जन स्थान नहीं रह गया है।' हमलोग जिस दिन गये थे तब भी ब्रह्मकुंड के आसपास बहुत से बड़े-बड़े पेड़ थे एवं स्थान का गाम्भीर्य भी कम नहीं था।

काशी में-

इस समय महापुरुषजी कनखल में मात्र पाँच-छः दिन ही रहे। उन्होंने विविध धर्मप्रसंग और सप्रेम व्यवहार से आश्रम के सभी साधु ब्रह्मचारियों एवं विभिन्न अखाड़े के अनेक स्थविर संन्यासियों को खूब आनन्द दिया था। उनमें बहुत से लोग उनकी पुण्य-स्मृति को हृदय में ग्रहण किए हुए अभी भी आनन्द पाते हैं एवं 'क्षणमिह सज्जन-संगति रेका भवति भवार्णव तरणे नौका'—इसी आचार्य वाक्य की सत्यता को हृदयङ्गम कर रहे हैं। महापुरुषजी साथियों के साथ शिवरात्रि के आगे ही काशी आ गये। उनके शुभागमन से शिवरात्रि उस वर्ष खूब अच्छी तरह से सम्पन्न हुई।

(--क्रमश:)

बड़ा कौन ?

'शिवपुराण' में वर्णित है कि एक बार ब्रह्मा और विष्णु में विवाद छिड़ गया कि उनमें कौन बड़ा है ? यह विवाद युद्ध स्तर तक बढ़ गया। इसी समय उनके मध्य एक विशाल स्तम्भ प्रकट हुआ। इसे देखकर दोनों ने निर्णय किया कि इस स्तम्भ के एक सिरे को ब्रह्मा छूकर आयें और दूसरे को विष्णु। जो पहले छू लेगा, वही बड़ा माना जायेगा।

दोनों देवता काफी समय तक उस स्तम्भ के सिरों को ढूंढते रहे मगर दोनों में कोई भी सफल नहीं हो सका। हारकर दोनों वापस लौट आये। तभी भगवान शंकर प्रकट हुए। उन्होंने बताया कि यह स्तम्भ वे स्वयं हैं। यह उन्हीं का ज्योति लिंग है। विष्णु और ब्रह्मा ने स्वीकार किया कि उन दोनों में बड़ा होने का कोई अधिकारी नहीं। महादेव तो शंकर ही हैं।

जिस समय यह घटना घटी, वह फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी ही थी। तभी से महाशिवरात्रि भी मनायी जाने लगी। भगवान शंकर ने उस स्तम्भ ज्योति लिंग को छोटा बना दिया ताकि उसकी पूजा सर्वत्र सुलभता से की जा सके।

—पुष्कर द्विवेदी

डाक पंजीयित संख्या - सी एन पी -१४-८३

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
शिवशक्ति प्रिन्टर्स, सईदपुर, पटना-४ में मुद्रित।